## प्रथम अध्याय

## साहित्य का समाजशास्त्र : स्वरूप विश्लेषण

साहित्य समाज का एक दर्पण होता है। समाज में फैले दुष्प्रभाव को उजागर करना साहित्य का दायित्व है। साहित्य के माध्यम से समाज के गुण और अवगुण को दर्शाया जा सकता है क्योंकि साहित्य मानव जीवन का प्रतिबिम्ब है। सामाजिक जीवन के समस्त रंग व राग साहित्य में ही समाहित होते है। साहित्य में सामाजिक भाव दिखाई देता है। आज की अर्थ-प्रधान व्यवस्था व विज्ञान से जन्मी विसंगतियों से साहित्य मानवता की रक्षा एवं दिशा प्रदान करता है। भगवत शरण अग्रवाल अपनी पुस्तक 'साहित्य और समीक्षा' में लिखते हैं कि साहित्य समाज के दीपक का प्रकाश है, समाज के प्रति ध्वनि है, समाजरूपी शरीर का प्राण है।''[1] साहित्यकार समाज से ही अपनी विषय सामग्री को परिस्थिति के अनुकूल ही ग्रहण करता है। समाज की प्रतिच्छाया साहित्य है। जिससे समाज का निर्माण व्यक्तियों के माध्यम से अपने पारस्परिक हितों की सुरक्षा की जाती है। धीरे-धीरे व्यक्तियों में पाया जाने वाला पारस्परिक सम्बन्धों का ताना-बाना सामान्य से कठिन होने लगा। ऑगस्ट कॉम्टे ने समाज को व्यक्ति रूप में नहीं बल्कि परिवार के समूह और सदरू के रूप में ही देखा है। कॉम्टे ने समाज को समष्टि मानते हुये उसे सामाजिक संबंधों से जुड़ा एक परिवार के रूप में स्वीकार किया है। समाज के बिना साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती। साहित्यकार अपने युग, समाज, धर्म, अर्थ और राजनीति की उपेक्षा नहीं कर सकता है। जिसके कारण साहित्य और समाज को अलग करके देखना असंभव प्रतीत होता है क्योंकि किसी एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व अविचारणीय हो जाता है। साहित्य समाज में घटित घटना को ही बताता है। वह किसी भी रूप में हो सकता है। चाहे वह प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष। साहित्य यथार्थ और काल्पनिक विषय को समाज के

अनुकूल ही विषय को प्रस्तुत करता है। इसलिये साहित्य और समाज एक-दूसरे के पूरक हैं। समाज का विषय उसके मूल्यों पर आधारित होता है। इसी मूल्य से प्रभावित होकर साहित्य समाज का आईना बनता है।

समाजशास्त्र और साहित्य का मूल्य अपने सम्बन्धों का निर्वाह करता है जिससे समाज में रहने वाले सामाजिक व्यक्ति एवं दूसरे सामाजिक व्यक्ति के साथ उसके व्यवहार का विशेष रूप से अध्यन करता है। समाज में रहने वाले प्राणी व्यापक स्तर पर एक दूसरे से हमेशा जुड़े होते हैं। एक व्यक्ति का व्यवहार दूसरे व्यक्ति को प्रभावित करता है। समाजशास्त्र व्यक्ति के संबंधों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उसका विश्लेषणात्मक अध्ययन करता है।

समाज और साहित्य एक-दूसरे के मूल्य पर आधारित हैं जो सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप को निर्धारित करती है। इसमें साहित्य के मूल्य एवं समाज के मूल्य को व्यक्ति अपने अनुकूल ढालने की कोशिश करता है। समाज एक प्रयोगशाला का स्वरूप धारण करता है। इसमें मनुष्य अपने व्यवहार का प्रयोग दूसरे मनुष्यों पर भली-भाँति करता है। व्यक्ति एक-दूसरे के व्यवहार को समझते हैं। उसी व्यवहार को लेकर साहित्य मनुष्य के व्यवहार का चित्रण करता है। समाज और साहित्य की विशेषता ही सामाजिक मूल्य को दर्शाता है। साहित्य का समाजशास्त्र जैसी अवधारणा के मूल में समाज और साहित्य की विशेषता और धारणा को निहित करती है। इसके माध्यम से साहित्य की सामाजिकता स्पष्ट हो जाती है। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से वह शास्त्र जो साहित्य के माध्यम से समाज का अध्ययन करता है उसे साहित्य का समाजशस्त्र कहते हैं। मैनेजर पाण्डे ने अपनी पुस्तक ‘‘साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका’’ में लिखा है कि ‘‘साहित्य के समाजशास्त्र ने साहित्य की ऐसी धारणा विकसित की है जिससे साहित्य का सामाजिक स्वरूप स्पष्ट हो और समाज से साहित्य के संबंध की व्याख्या संभव हो।’’[2] इसलिए साहित्य के समाजशास्त्र के अनुसार साहित्य मात्र कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं

है। उसकी दृष्टि में मात्र कलात्मक मानदण्डों के सन्दर्भ में किये जाने वाले साहित्य का विश्लेषण अधूरा है। कलात्मक श्रेष्ठता की दृष्टि से रचना कितनी ही महान क्यों न हो, जब तक वह समाज के गहन अध्ययन के सन्दर्भ में उपयोगी न होगी, तब तक साहित्य की उपादेयता संदिग्ध होगी। शिवकुमार मिश्र के अनुसार ''साहित्य विश्लेषण का यह समाजशास्त्रीय नज़रिया परम्परागत तथा दूसरे समकालीन नज़रियों से आधारत: इस मुद्दे पर भिन्न है कि यह साहित्य को महज आस्वाद, उपभोग या आनन्द की वस्तु न मानकर उसे एक सामाजिक और सांस्कृतिक कर्म मानता है।''[3] अत: समाज से साहित्य के इसी सरोकार के अध्ययन को साहित्य का समाजशास्त्र कहा जाता है। साहित्य का समाजशास्त्र का अध्ययन करते समय ऐसे बहुत से प्रश्न उठते हैं कि सामाजिक आलोचना और समाजशास्त्रीय आलोचना में क्या भिन्नता है? केवल सामाजिक मूल्य की जानकारी देने वाला साहित्य ही सामाजिक साहित्य है। चूँकि 'ऐसा क्यों' का उत्तर देना साहित्य और समाजशास्त्रीय मूल्यों का महत्व ही साहित्य होता है। शिवकुमार मिश्र लिखते है ''साहित्य विश्लेषण का यह समाजशास्त्रीय नज़रिया साहित्य की व्याख्या को ही अपना मूल कार्य नहीं मानता, वरन् साहित्य के स्त्रोतों का भी अध्ययन करता है, वह केवल इस प्रकार का उत्तर देकर ही चुप नहीं हो जाता कि साहित्य क्या हैं और वह सहृदय को किस सीमा तक आनन्दाभिभूत करता है, वरन् इन प्रश्नों से आगे जाकर वह ऐसे सवालों को भी हल करता है कि उसका सामाजिक कार्य क्या है, और समूचे मानव परिवेश में उसकी स्थिति कहाँ पर हैं?''[4] समाज के बिना साहित्य की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि समाज को साहित्य से अलग करके देखना असंभव है। ऐसे ही समाजशास्त्रीय अध्ययन के निष्कर्ष में किसी कृति को श्रेष्ठ-कनिष्ठ, अच्छा-बुरा, ग्राह्य-अग्राह्य के रूप में घोषित नहीं करता। 'क्या है?' 'कैसा है?' के संदर्भ में अध्ययन करना समाजशास्त्र की सीमा है। परन्तु साहित्य की कोई सीमा नहीं है। समाजशास्त्र में कैसा या क्या होना चाहिए, आदि प्रश्न ही उठाये जाते हैं जो प्राय: दार्शनिक एवं साहित्यकार

करते आए हैं। इस संदर्भ में यह प्रश्न उठते हैं कि साहित्यिक समीक्षकों के माध्यम से समाजशास्त्रीय समीक्षा को अपनाने के पीछे का उद्देश्य साहित्यिक है या समाजशास्त्रीय? ऐसे में यहाँ साहित्यिक एवं समाजशास्त्रीय अध्ययन और समाजशास्त्रीय तथा साहित्यिक अध्ययन के अन्तर को स्पष्ट करना उचित एवं संभव है।

साहित्यिक समाजशास्त्रीय अध्ययन में साहित्य समीक्षक साहित्य रूपी सामाजिक चेतना की सांस्कृतिक प्रक्रिया का विवेचन और मूल्यांकन करता है। समाजशास्त्रीय साहित्यिक अध्ययन में समाजशास्त्रीय संबंधी तथ्य एवं सूचनाएँ प्राप्त करने के लिए साहित्य का अध्ययन करता है। सामाजिक प्रयोजन के अन्तर के कारण समाज और साहित्य इन दोनों प्रकार के अध्ययन में अन्तर है। किसी भी समाजशास्त्रीय द्वारा किया जाने वाला साहित्यिक विश्लेषण का प्रयोजन साहित्यिक नहीं, समाजशास्त्रीय होता है। इस प्रकार साहित्यिक समीक्षक समाज का विश्लेषण करके सम्बन्धित गतिविधियों का अध्ययन कर समाजशास्त्रीय स्थापना में अपना योगदान प्रस्तुत करते हैं। अत: साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन में समीक्षक समाज सम्बन्धी गतिविधियों पर विचार तो कर सकता है। परन्तु इसके लिये साहित्य उसकी पहली शर्त होगी। वह साहित्य के सिद्धान्तों पर विशेष प्रभाव डालेगा। इसके लिये साहित्य उसकी विभिन्न प्रणालियों पर ध्यान देगा जो समाजशास्त्रीय विचारों को अभिव्यक्त करेगा। वह साहित्य पर समाज शास्त्रीय सिद्धांतों का आरोप नहीं लगा सकता। साहित्य की रचना प्रक्रिया को ध्यान में रखकर उसके अनुकूल ही समाजशास्त्रीय पद्धति का निर्धारण कर सकता है। इससे साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन साहित्यिक एवं सामाजिक दृष्टि से संपन्न हो सकता है। इस विषय पर रमेश उपाध्याय लिखते है कि ‘‘साहित्यिक अध्येता द्वारा किये जाने वाले साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की प्रकृति मूलत: समीक्षात्मक और मूल्यांकनपरक होती है। उसका प्रयोजन समाज की विकास प्रक्रिया में साहित्य की विकास प्रक्रिया का अध्ययन करना होता

है, जिससे वह साहित्य में समय-समय पर होनेवाले परिवर्तनों, साहित्यिक आन्दोलनों तथा प्रवृत्तियों, साहित्य में प्रचलित परंपराओं तथा उत्पन्न नवीनताओं के कारणों को समझ सके और समकालीन समाज की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आवश्यकताओं तथा दार्शनिक दृष्टियों, कला सिद्धान्तों एवं सौन्दर्याभिरूचियों के आलोक में साहित्यिक कृतियों, परम्पराओं, आन्दोलनों तथा प्रवृत्तियों की समीक्षा और मूल्यांकन कर सके।''[5] इस प्रकार समाज एवं साहित्य के समीक्षात्मक अध्ययन में साहित्य की विशेष रूप से समाज के दृष्टिकोण को समझने के लिये समाजशास्त्रीय दृष्टि नहीं बल्कि साहित्यिक दृष्टि से समझना जरूरी हो जाता है। अत: साहित्य की समाजशास्त्रीय समीक्षा के लिए जरूरी है कि साहित्य को साहित्य ही मानें, समाजशास्त्रीय अध्ययन का विषय नहीं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि साहित्य एवं समाजशास्त्रीय अध्ययन में साहित्य सृजन की संपूर्ण रचना प्रक्रिया को जन्म देने वाले कारकों के संदर्भ में साहित्यिक समाज की संरचना और कृति के प्रभावों का अध्ययन होता है। इस सम्पूर्ण समाज एवं साहित्य रचना प्रक्रिया को समझने के लिए लेखक, कृति और समाज के परस्पर संबंधित विचारों पर अध्ययन किया जाता है। रचना प्रक्रिया में साहित्यकार के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की छाप पड़ती है। इस व्यक्तित्व के द्वारा साहित्यकार समाज को अभिव्यक्त करता है। लेखकीय व्यक्तित्व को रूपायित करने में उसके समाज का भी योगदान होता है। इस प्रकार तीनों के अंत: संबंधों पर विचार व्यक्त करना आवश्यक हो जाता है। साहित्य, समाज एवं साहित्यकार के परस्पर सम्बन्धों के बारे में नामवर सिंह ने लिखा है कि ''साहित्य के निर्माण में इस बीच की कड़ी लेखक के व्यक्तित्व का बहुत महत्व हैं और इस महत्व की महत्ता इस बात में है कि एक ओर इसका संबंध समाज से है तो दूसरी ओर साहित्य से। साहित्य की रचना प्रक्रिया में समाज, लेखक और साहित्य परस्पर एक-दूसरे को इस तरह प्रभावित करते हैं कि इनमें से प्रत्येक क्रमश: परिवर्तित और विकसित होता रहता है, समाज से लेखक, लेखक से

साहित्य और साहित्य से पुन: समाज।''[6] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य समाजशास्त्रीय अध्ययन की अवधारणा में साहित्य केवल समाज का फोटोग्राफिक प्रतिबिम्ब नहीं है और साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन का क्षेत्र बहुत व्यापक रूप में है। विश्वम्भर दयाल गुप्ता लिखते हैं कि ''साहित्य का समाजशास्त्र इस मान्यता पर आधारित है कि साहित्य और समाज परस्पर अभिन्न हैं और साहित्य अध्ययन के माध्यम से साहित्य सर्जन प्रक्रिया, साहित्य वर्णित सामाजिक अन्तर्वस्तु, समाज और उसकी संस्थाओं के उद्भव एवं विकास, प्रगति, परिवर्तन, व्याप्त विचलन आदि का बोध संभव है।''[7] निष्कर्षत: यह कह सकते हैं कि साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन एवं साहित्यिक अरध्ययन की प्रक्रिया में समाज का अध्ययन एक संभावित क्षेत्र विशेष समाज का निर्माण करता है। इस प्रकार समाज एवं साहित्य के अध्ययन में रचना के प्रत्येक स्तर में निहितार्थ सामाजिकता की व्याख्या की जाती है और यह साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के प्रतिमान के संदर्भ में वर्तमान समाज एवं साहित्य में प्रासंगिक है। इस प्रकार सैद्धान्तिक लेखन, दार्शनिकों का समाजशास्त्रीय अध्ययन एवं साहित्यिक कृतियों का समाजशास्त्रीय अध्ययन का आधार समाज और साहित्य के मूल्यों पर निर्भर करता है।

**1.01 समाज एवं साहित्य का स्वरूप**:-

समाजशास्त्र समाज में रहने वाले मानव जाति का अध्ययन बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से करता है। समाजशास्त्र विषय पर अध्ययन करने वाले भारत में सर्वप्रथम 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रोफेसर ब्रजेन्द्रनाथ शील द्वारा समाजशास्त्र विषय के रूप में अध्ययन प्रारम्भ किया गया। यद्यपि अनौपचारिक रूप से भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन अन्य रूपों में हजारों वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ हो चुका था। भारतवर्ष के प्राचीन ग्रंथों में जैसे-वेद, उपनिषद, स्मृति, रामायण, महाभारत आदि में सामाजिक मूल्यों आदर्शों तथा सामाजिक संस्थाओं का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य का अर्थशास्त्र, शुक्राचार्य का नीतिशास्त्र आदि भी अपने

समय की सामाजिक व्यवस्था, संस्थाएँ, परम्पराओं आदि का विवरण प्रस्तुत करती है। जैसा कि कहा जाता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो सदियों से समाज में रहता रहा है। एक सामाजिक प्राणी होने के नाते सामाजिक घटनाओं से मनुष्य में हमेशा से ही उत्सुकता बनी रहती है। वह हमेशा से समाज को जिसमें वह निवास करता है जानने और समझने की चाह रखता है। समाज को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयास 'समाजशास्त्र' द्वारा किया गया है। जो वह एक नया सामाजिक विज्ञान के श्रेष्ठ विचार को प्रभावित करता है। समाजशास्त्र समाज में रहने वाली मनुष्य जाति का अध्ययन करता है। यह समाज की विभिन्न पहलुओं एवं घटनाओं का अध्ययन करता है और इसके लिए वह वैज्ञानिक ढंग को अपनाकर इसका अध्ययन करता है। समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों एवं उनके प्रकारों और स्वरूपों जो भी उसे प्रभावित करता है उसका वह अध्ययन करता है और जिनको मनुष्य प्रभावित करता है। समाज विज्ञान के अध्ययन का स्वरूप है। मानव जाति का कैसा व्यवहार होता है। इसका अध्ययन समाजशास्त्र करता है और मानव जाति के व्यवहार को समाज में स्थापित करता है। समाजशास्त्र का महत्वपूर्ण काम समाज और सामाजिक प्राणी की परस्पर क्रियाओं की खोज करना होता है। व्यक्ति समाज में स्वतंत्र रूप में नहीं रह सकता है क्योंकि समाज के कुछ नियम एवं मूल्य होते है और व्यक्ति को समाज के अनुकूल नियम, धार्मिक, राजनीति, आर्थिक एवं सामाजिक मूल्यों के दायरे में रहना पड़ता है। वे सामाजिक निकायों जैसे परिवार, जनजाति, जाति, वर्ग एवं कुल राष्ट्र का हिस्सा होते हुए भी सभी को सामाजिक मूल्य के अनुकूल ही रहना पड़ता है। व्यक्ति इसमें किस प्रकार संबंध व तारतम्यता बैठाता है इसका वर्णन समाजशास्त्र में होता है जो साहित्य के अनुकूल रचना प्रक्रिया के माध्यम से समाज में इसका प्रभाव दिखाई पड़ता है। समाजशास्त्र ऐसा विषय है जो मनुष्य को समाज में किस तरह से कार्य करना है वह सिखाता है। समाज के मूल्य, धर्म, अर्थ, कर्तव्य एवं सामाजिक बंधन हैं उसे साहित्य बड़े पैमाने पर दर्शाता है। सामाजिक घटनायें

ही समाज के मूल्य को प्रभावित करती हैं। वह क्यों और कैसे करता हैं, इसकी समझ देते हैं और समाज के बारे में सवाल पूछने के लिये प्रशिक्षित करता है। इसके विषय में हरिकृष्ण रावत लिखते हैं कि ''एक समाजशास्त्री समाज के विभिन्न पहलुओं एवं पक्षों को एक समष्टि के परस्पर निर्भर भागों के रूप में देखता है। वह समाज का अपने पूर्णत्व में अध्ययन करता है। अत: समाजशास्त्र समाज का अध्ययन एक समग्र संरचना के रूप में करता है।''[8] अत: समाजविज्ञान के आधार पर सामाजिक मूल्य समाज के लिये बहुत व्यापक है जिसे सामाजिक जीवन जीना एक कला के रूप में कह सकते है। समाजशास्त्र में मनुष्य जाति का एक अंत: संबंधित सम्पूर्णता के रूप में अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्र इसका विधिवत अध्ययन करता है कि किस तरह समाज और मानव एक दूसरे को प्रेरित एवं अंत:क्रिया करते हैं।

**1.02 रेमंड विलियम्स का साहित्य का समाजशास्त्र पर विश्लेषण-**

रेमण्ड विलियम्स एक पाश्चात्य विचारक हैं। इन्होंने साहित्य का समाजशास्त्र पर विश्लेषण किया जो साहित्य का समाजशास्त्र के संदर्भ में विभिन्न प्रणालियों के प्रसंग से समाज एवं साहित्य की गहरी समझ मानी जाती है। अत: इनके विचारों का धारा प्रवाह सामाजिक चिंतन से लेकर साहित्य की गतिविधियों तक समाहित है। बींसवीं शताब्दी के चौथे दशक में तथाकथित इंग्लिश स्कूल या अंग्रेजी साहित्यिक समालोचना के अन्तर्गत साहित्यिक समाजशास्त्र- लिटरेरी सोशियोलॉजी की शुरूआत हुई। इसके केन्द्र बिन्दु डॉ0 एफ0 आर0 लीविस थे और 'स्क्रूटनी' नामक पत्रिका उसका माध्यम था। उस इंग्लिश स्कूल की लिटरेरी सोशियोलॉजी का दूसरा चरण, अपेक्षाकृत अधिक विकसित रूप में रेमंड विलियम्स में मिलता है। रेमंड विलियम्स ने समाजशास्त्र और साहित्य के सम्बन्ध को लेकर जो विचार प्रस्तुत किया है वह समाजशास्त्रीय एवं साहित्यिक मूल्यों को स्थापित करती है। रेमंड विलियम्स ने 'लिटरेचर एवं सोशियोलॉजी' नामक एक लेख 1971 में 'न्यू लेफ्ट रिव्यू' में प्रकाशित किया था। यह लेख

प्रसिद्ध फ्रांसीसी समाजशास्त्री लूसिएँ गोल्डमान, जिन्होंने साहित्य के समाजशास्त्र पर बहुत ही व्यापक एवं व्यवस्थित कार्य किया उन कार्यों के लिए वे पश्चिमी दुनिया में प्रसिद्ध हैं, की याद में लिखा गया था। इसलिये वे साहित्य को अपने चिन्तन में भी प्रधानता देते हैं और अपने लेख में भी। इंग्लैण्ड में उस समय जो समाजशास्त्र था, जो समाजशास्त्र की पद्धति थी, वह बहुत कुछ पॉजिटिविज्म से प्रभावित थी। उसका एक दूसरा नाम भी इस्तेमाल किया है गोल्डमान ने उन्होंने शब्द लिया है' 'साइटिज्म'। पॉजिटिविज्म एंव साइटिज्म। इस तरह समाजशास्त्र में आमतौर पर विज्ञान की पद्धति अपनाई गयी थी। एक तो साहित्य के समाजशास्त्र की एक लम्बी परम्परा यूरोप में रही है। दूसरी चीज यह है कि इस परम्परा में स्वयं समाजशास्त्रियों ने पहल की थी और तीसरी बात यह है कि यूरोप में समाजशास्त्र के अन्तर्गत बहुत पहले ही साइटिज्म का विरोध शुरू हो गया था। दुर्खीम और मैक्स वेबर इन दो का नाम तो लिया ही जाता है। यह भी परम्परा थी कि समाजशास्त्र के विद्वान स्वयं साहित्य का अध्ययन करते थे। वे साहित्यिक कृतियों को आधार मानते थे और इसलिये एक ऐसे समाजशास्त्र की आवश्यकता पर बल देते हैं जो समाजशास्त्र उस मूल्य अधिष्ठित साहित्य का अध्ययन कर सके। प्राय: साहित्य के समाज शास्त्रीय अध्ययन में ऐसा नहीं है कि समाज साहित्य में विलीन हो जाये। ऐसा नहीं होता। तब तो यह शुद्ध साहित्य हो जायेगा। साहित्य ही समाज में विलीन होता है रिड्यूस होता है। विलियम्स ने दिखाया है कि दरअसल साहित्य अधिरचना नहीं है साहित्य बेस का अंग है, आधार का अंग है।

**1.03 समाजशास्त्र-**

अर्थ-अर्थ की दृष्टि से देखें तो समाजशास्त्र मनुष्य के समाज एवं वैज्ञानिक स्वरूपों का विवेचना करता है। समाज में संबंधों के ताने-बाने, उनके समाज में एक-दूसरे के व्यवहार एवं विचारों का विशेष रूप से अध्ययन करते हैं। एम. फ्रांसीस एब्राह्म के अनुसार Sociology

deals with the big picture the larger society, as well as the relationship among different aspects of society and the inter-conection between each of the parts and society as a whole."[9] अर्थात् समाजशास्त्र एक बड़ी तस्वीर है, बड़े समाज के साथ-साथ समाज के विभिन्न पहलुओं के बीच संबंध और प्रत्येक हिस्से तथा पूरे समाज के बीच के अन्तर सम्बन्ध से सम्बन्धित है।''[10]

**1.04 व्युत्पत्ति अर्थ:-**

समाजशास्त्र शब्द का उद्भव ग्रीक तथा लैटिन भाषा के शब्द से हुई मानी जाती है।

"Origins of the word 'Sociology', from the Latin socius (companion) and the Greek Ology (study of), indicate its nature as a hybrid discipline that can never aspire to the status of a social science or a coherent body of knowledge." [11] अर्थात्- ''लैटिन सोशियस (साथी) और ग्रीक ओलॉजी (अध्ययन) से समाजशास्त्र शब्द की उत्पत्ति, इसकी प्रकृति को एक संकट अनुशासन के रूप में इंगित करती है जो कभी भी सामाजिक विज्ञान या ज्ञान के सुसंगत निकाय को स्थिति की आकांक्षा नहीं कर सकती है।''

**1.0.5 कोशगत अर्थ:-**

समाजशास्त्र का अर्थ विभिन्न कोशों में इस प्रकार दिया गया है। जो निम्न है:-

श्याम बहादुर वर्मा के अनुसार ''सामाजिक संस्थाओं तथा सामाजिक संबंधों का शास्त्र''।[12]

कालिका प्रसाद के अनुसार ''मनुष्य को सामाजिक प्राणी मानकर समाज के प्रति उसके कर्त्तव्यों आदि का विवेचन करने वाला शास्त्र।''[13]

नगेन्द्र के अनुसार ''वह विज्ञान जिसमें सामाजिक संगठन के विकास और नियम-सिद्धान्तों का अध्ययन होता है। समाज-विज्ञान के अनुसार समूह-व्यवहार, समूह में व्यक्ति के व्यवहार से सामान्यत: भिन्न होता है।''[14] समाजशास्त्र सामाजिक व्यवहार व सामाजिक संरचना एवं वैज्ञानिक दृष्टि को अपनाता है। समाजशास्त्र मनुष्य के समाज में एक दूसरे से संबंधों, व्यवहारों व परस्पर क्रियाओं का विवेचन करता है।

### 1.0.6 साहित्य और समाज का मूल्य दृष्टि:-

समाज के संदर्भ में मानव जाति का मूल्य दृष्टि उसके व्यवहार पर एवं चरित्र पर आधारित है। साहित्य का दृष्टिकोण अपने साहित्यिक मूल्यों का निर्वहन करता है जो सामाजिक एवं साहित्यिक कलात्मक रूप को हमेशा जोड़े रहती है। इसमें मनुष्य के चरित्रों का एवं व्यवहारिक धरातल पर सामाजिक हितों की कल्पना का विकास किया जाता है। सामाजिक मूल्य को व्यक्ति, परिवार, समाज, संस्थाओं आदि पर केन्द्रित किया जाता है। समाज एवं साहित्य समाज में रहने वाले मानव के दूसरे व्यक्तियों से संबंधों को समाज की संरचना पर अपनी दृष्टि को बनाये रखते हैं। साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में साहित्य और समाजशास्त्र अनिवार्य है। साहित्य साध्य की भूमिका निभाता है और समाजशास्त्र साधन की। समाजशास्त्र एक ऐसा साधन है जिसमें साहित्य का अध्ययन एवं विश्लेषण कर सकते हैं। इस विषय में डॉ0 नगेन्द्र लिखते हैं कि ''साहित्य अपने व्यक्त या मूर्त रूप में रचना अथवा कृति है, किंतु अव्यक्त रूप में कृति के पीछे कृतिकार का व्यक्तित्व और कृतिकार के व्यक्तित्व के पीछे उसका सामाजिक परिवेश रहता है। अत: साहित्य का एक छोर परिवेश रहता है। अत: साहित्य का एक छोर सामाजिक परिवेश के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। इस तर्क से साहित्य के परिपूर्ण अध्ययन के लिये उसके सामाजिक पहलुओं का अर्थात् उन संदर्भों का जो उसके अस्तित्व और मूल्यावस्था को प्रभावित करते है का आकलन आवश्यक है। लेकिन अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु प्रत्येक स्थिति में

साहित्य ही रहता है। समाजशास्त्र का प्रयोग यहाँ साधन के रूप में ही होता है। वह साधन है साध्य नहीं और साहित्य के लिये उसकी सार्थकता यहीं तक है।''[15] साहित्य और समाज हमें समाज के बारे में सही दिशा प्रदान करते हैं और समाज का बोध भी करवाते हैं। इस समाज में बहुत-सी विशेषताएँ है जिनके अध्ययन की आवश्यकता है।

मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि ''रिचर्ड होगार्ड मानते हैं कि समाज के बारे में एक महत्त्वपूर्ण रचनाकार और समाजशास्त्री की अन्तर्दृष्टियों में बहुत दूर तक समानता होती है। दोनों समाज से सार्थक तथ्यों एवं ब्यौरों का चुनाव करते हैं और उनमें व्यवस्था पैदा करते हैं। इस प्रक्रिया में रचनाकार समाज का एक तस्वीर बनाता है और समाजशास्त्री एक सिद्धांत।''[16] समाज में मनुष्यों के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया ही अन्त: क्रियाओं को बाँधे रखती है। वहीं साहित्य और साहित्यकार के मध्य अन्त: क्रियाओं का संबंध होता है। विश्वम्भर दयाल गुप्ता ने लिखा है कि ''साहित्य और समाजशास्त्र दोनों ही व्यक्ति समाज और संस्कृति को अपने वर्ण्य विषय में शामिल करते हैं। दोनों का सम्बन्ध मानव जीवन की व्याख्या से है। साहित्य मानवीय अन्त: क्रियाओं का परिणाम है, वह समाज को प्रतिबिम्बत करता है जिसका अध्ययन समाजशास्त्री का अध्येय है।''[17] समाज और साहित्यिक का योगदान ही साहित्य अध्ययन के समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण एवं मूल्य को विकसित करता है। यह अध्ययन को वैज्ञानिक आधार प्रदान करता है। साहित्य, समाज और समाजशास्त्र तीनों ही एक-दूसरे से कड़ी के रूप में जुड़े होते हैं। इसी संदर्भ में शिवपूजन शर्मा भी लिखते हैं कि ''साहित्य के साथ समाजशास्त्र का सम्बन्ध त्रिकोणात्मक है। साहित्य अपने मूर्तरूप में कृति है, कृति के साथ कृतिकार के व्यक्तित्व का सम्बन्ध होता है और कृतिकार का व्यक्तित्व समाज से प्रभावित हुआ करता है। रचनाकार साहित्य की यात्रा के अनन्तर सामाजिक परिवेश से होकर गुजरता है। अत: साहित्य साध्य है और समाजशास्त्र

साधन।''[18] साहित्यकार एवं समाजशास्त्री सामाजिक परिवेश का गहन अध्ययन करते हैं और साहित्य और समाज में त्रिकोण रूप में मानवजाति के सम्बन्ध को स्थापित करते हैं।

### 1.1 समाज और साहित्य की अवधारणा-

समाज एक से अधिक लोगों का परिवार है जिसमें व्यक्ति अपने अन्त: सम्बन्धों को और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। मानवीय क्रियाकलाप में आचरण सामाजिक सुरक्षा और निर्वाह आदि की क्रियाएं सम्मिलित हैं। समाज मानव जाति का एक ऐसा समूह है जो मानव अपने अंदर के समूह के मुकाबले अन्य समूहों से बहुत कम मेलजोल रखता है। किसी समाज के अन्तर्गत आने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के प्रति परस्पर प्रेम तथा सहृदय का भाव रखता है। संसार में सभी समाज अपनी एक अलग पहचान बनाते हुये अलग-अलग रस्मों-रिवाजों का पालन करता है। समाज के मुख्य दृष्टि में सामाजिक आचरण एवं व्यवहार की सराहना किया जाता है। सामाजिक मूल्यों में मानव अपने आप को ढालता है। इसमें भी क्रिया-प्रतिक्रियाओं का भी ध्यान रखता है। समाज एक मानवीय अंत: क्रियाओं के प्रक्रम की एक प्रणाली है जिसमें मानवीय क्रियाएँ बोध एवं अबोध की अवस्था में पायी जाती हैं। मानव का आचरण कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रयास की अभिव्यक्ति होती है। उसकी कुछ नैसर्गिक क्रियाएं तथा अर्जित आवश्यकताएँ पायी जाती हैं। जैसे-काम, सुरक्षा, क्षुधा एवं धर्म, अर्थ की प्राप्ति आदि सामाजिक मूल्यों को बढ़ावा देती है।

इनकी पूर्ति के अभाव में मानव कुंठा और मानसिक तनाव से ग्रसित हो जाता है। मानव इसकी पूर्ति करने में स्वयं सक्षम नहीं हो पाता है। अत: इन आवश्यकताओं की सम्यक् संतुष्टि हेतु अपने व्यापक विकास क्रम में मानव ने एक समष्टिगत प्रणाली को विकसित करता है। हम इस व्यवस्था को समाज के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह मानवों का ऐसा संकलन है जिसमें

वे सब निश्चित सम्बन्ध को एवं विशेष व्यवहार के माध्यम से एक-दूसरे को बाँधे रखते हैं। मनुष्यों की वह संगठित व्यवस्था कई तरह के कार्यों हेतु विभिन्न मानदण्डों को विकसित करता है जिनके कुछ व्यवहार समाज में अनुमत एवं कुछ निषेध होता है। साहित्य के भाषा के द्वारा अपने अंतरंग की अनुभूति करानेवाली ललित कला 'काव्य' अथवा 'साहित्य' कहलाती है। ललित कला अथवा अंग्रेजी का Fine Art शब्द उस कला के लिये प्रयुक्त होता है जिसका आधार सौन्दर्य या सुकुमारता है जैसे-चित्रकला, नृत्य, शिल्पकला, वास्तुकला और संगीत आदि साहित्य का विशेष अंग है। साहित्य की अवधारणा को लेकर जनता तथा साहित्य सम्पर्क की पहचान पर आधारित है। भारतीय साहित्य को भाषा, भौगोलिक क्षेत्र, राजनीतिक एकता के साथ-साथ देश की जनता के आधार पर पहचाना जाता है। समन्वित सांस्कृतिक क्षेत्र का निर्माण होता है। और वह भारतीय साहित्य के परस्पर सम्बन्धों पर आधारित होता है। साहित्य के तत्वों में चार तत्व हैं- (1) भाव (2) कल्पना (3) बुद्धि (4) शैली। इस प्रकार देखें तो साहित्य की आत्मा तत्व उसका 'भाव' ही है जो साहित्य को विचारणीय एवं प्रभावित करती है। साहित्य की विशेषताओं में प्रमुख हैं-

(1) समन्वय की भावना।

(2) भाषा-शुद्ध साहित्यिक हिन्दी।

(3) शैली-गम्भीर विषय को बोधगम्य बनाने एवं विचारात्मक शैली

(4) वाक्य विन्यास सुगठित और शब्द चयन की प्रस्तुति।

ये सब साहित्य के प्रमुख अंगों को प्रभावित करती है जो एक साहित्य के लिए जरूरी होता है। साहित्य एवं समाज की प्रवृत्तियाँ ही समाजशास्त्रीय स्वरूपों का निर्धारण करती हैं।

### 1.1.1 साहित्य समाज में-

समाज और साहित्य में संस्कार एवं वृत्तियों की कला विवेचन समाज एवं साहित्य दोनों में की जा सकती है। क्योंकि मनुष्य एक चेतनायुक्त सम्पन्न प्राणी है। समाज में अपने चारों तरफ की सृष्टि का अनुभव प्राप्त करता रहता है। वह उसको देखता और सुनता है। इस प्रकार उस पर उसकी छाप पड़ जाती है। इस संदर्भ में श्यामसुन्दर दास ने अपनी पुस्तक साहित्यालोचन में लिखा है कि ''मनुष्य मात्र की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपने भावों तथा विचारों को सुने और समझे। वह अपनी कल्पना के सहायता से ईश्वर, जीव तथा जगत् के विविध विषयों के सम्बन्ध में कितनी ही बातें सोचता है तथा वाणी के द्वारा उन्हें व्यक्त करने की चेष्टा करता है। वाणी का वरदान उसे चिरकाल से प्राप्त है और उसका उपयोग भी वह चिरकाल से करता आ रहा है। प्रेम, दया, करूणा, द्वेष, घृणा आदि मानसिक वृत्तियों का अभिव्यंजना तो मानव-समाज अत्यन्त प्राचीन काल से करता ही है, साथ ही प्रकृति के नाना रूपों से अद्भुत अपने मनोविकारों तथा जीवन की अन्याय परिस्थितियों के सम्बन्ध में अपने अनुभवों को व्यक्त करने में भी उसे एक प्रकार का संतोष, तृप्ति अथवा आनन्द प्राप्त होता है। यह सत्य है कि सब मनुष्यों में न तो अभिव्यंजना की शक्ति एक सी होती है और न सब मनुष्यों के अनुभवों की मात्रा तथा विचारों की गम्भीरता एक सी होती है परन्तु साधारणत: यह प्रवृत्ति प्रत्येक मनुष्य में पाई जाती है। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा से ज्ञान और शक्ति से उस भंडार का सृजन, संचय और संवर्द्धन होता है जिसे हम साहित्य कहते है।''[19] अर्थात् समाज एवं साहित्य में एक-दूसरे का अध्ययन किया जाता है। सामाजिक एवं साहित्यिक प्रभाव एक-दूसरे पर पड़ता है। इस प्रकार साहित्य के समाजशास्त्र में साहित्य के समाज में अस्तित्व एवं साहित्यकार की स्थिति पर भी विचार किया जाता है। समाज के विकास के साथ उसमें साहित्य एवं साहित्यकार की स्थिति भी परिवर्तित होती रहती है। उदाहरण के लिये भक्तिकाल में साहित्य एवं साहित्यकार की परिस्थिति वही नहीं

थी जो उत्तर मध्यकाल में रही थी। पूर्व मध्यकाल में कवि समाज का एक महत्वपूर्ण अंग होता था इसलिये साहित्य का व्यापक मौखिक प्रचार भी उस समय में व्यापक स्तर पर था। इस समय के कवियों की सामाजिक प्रतिबद्धता भी उल्लेखनीय है। कबीर जैसे संत अपने जीवनादर्श और अनुभूतियों को काव्यमय भाषा में अभिव्यक्त करने के कारण कवि कहलाये थे उन्होंने कवि बनने के लिए या मात्र रचनागत उद्देश्य से किसी आदर्श या अनुभव से जुड़ने की कोशिश नहीं की। तात्पर्य है कि भक्तिकाल में साहित्य एवं साहित्यकार समाज के ज्यादा निकट थे परन्तु उत्तर मध्यकाल में स्थिति बदल गयी। इसमें साहित्य लोक जीवन से निकलकर राज दरबार में आ गयी। इस काल के कवि अपने राज्य और राजा को प्रसन्न करने के लिये कविताएँ लिखने लगे थे। इस प्रकार साहित्य की दुनिया को एक सीमित समूहों में समेट लिया गया। यहाँ स्पष्ट होता है कि समय के अनुसार समाज में साहित्य की परिस्थिति भी परिवर्तित होती रहती है। इसके लिये कई सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक शक्तियाँ जिम्मेदार होती हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि साहित्य समाजशास्त्रीय विवेचन में साहित्य के प्रतिपाद्य के परे जाकर समय की पहचान कराने की क्षमता है इसलिये साहित्य की स्थिति की जाँच कई सामाजिक-सांस्कृतिक अंतर्विरोधों को सामने ले आती है। उदाहरण के लिये आधुनिक काल में साहित्य की स्थिति को ले सकते हैं। आधुनिक युग में साहित्य प्रकाशन एवं वितरण के व्यावसायिक चुंगल में फंसा हुआ है। वर्तमान में सम्पूर्ण साहित्य को सिर्फ व्यावसायिक लाभ की दृष्टि से आँका जा सकता है।

साहित्य एवं समाज के मूल में स्थिति इन मनोवृत्तियों के अतिरिक्त एक दूसरी प्रवृत्ति भी है जो सभ्य मानव-समाज में सर्वत्र पाई जाती है। मानवीय आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति को आर्थिक लाभ के तराजू पर तौले जाने की यह प्रवृत्ति साहित्य की सामाजिक अवस्था को स्पष्ट करती है। साथ ही यह सांस्कृतिक विघटन की एक गंभीर समस्या को सामने ले आती है जिससे

साहित्य में एक अलौकिक चमत्कार तथा मनोहारिता आ जाती है। इसे हम सौन्दर्य की भावना कह सकते हैं। सौन्दर्य प्रियता की भावना ही शुद्ध साहित्य को एक ओर तो जटिल और नीरस दार्शनिक तत्वों से अलग करती है तथा दूसरी ओर उसे मानव मात्र के लिए आकर्षक बनाती है। जैसे सब मनुष्यों में मनोवृत्तियाँ एक सी नहीं होती वैसे ही सौन्दर्य प्रियता की भावना समाज में समान रूप से विकसित नहीं होती। सभ्यता तथा संस्कृति के अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्यों में उसके भिन्न-भिन्न स्वरूप हो जाते है परन्तु इसका यह आशय नहीं है कि हम प्रयत्न करके किसी देश या काल के साहित्य में उपर्युक्त भावना की न्यूनता अथवा अधिकता का पता नहीं लगा सकते या उसके विभिन्न स्वरूपों को समझ नहीं सकते हैं। इस समस्या के सन्दर्भ में एवं समकालीन समाज में कविता की धरती पर विचार करते हुए प्रसिद्ध आलोचक ए. अरविन्दाक्षन जी ने लिखा ‘‘विजन 2020 की योजना सुनने में मोहक तो लगती है। सवाल यह है कि यह ‘विजन प्लान’ किस तरह के समाज के निर्माण के लिये है? इन विडम्बनाओं के बीच हमें अपने समाज और उसकी लघु इकाइयों तथा उसके भविष्य के बारे में विचार करना पड़ रहा है। अत: आम जीवन में कविता का मुख्य न होना मात्र कविता की समस्या नहीं है यह हमारे सांस्कृतिक विघटन की समस्या है।’’[20] यह समाज में साहित्य की स्थिति की खोज कई सांस्कृतिक विघटन की सूक्ष्म दृष्टियों को व्यक्त करता है। इसलिये साहित्य के समाजशास्त्रीय विवेचन में समाज में साहित्य की स्थिति की खोज एक मुख्य विषय के रूप में दिखाई देता है। इस प्रकार से साहित्य रूपी सांस्कृतिक धर्म एवं कर्म को अच्छे से समझ सकते हैं।

### 1.1.2 समाज साहित्य में:-

साहित्य के माध्यम से जिस प्रकार मनुष्य में अपने भावों तथा विचारों को व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा होती है उसी प्रकार उन भावों तथा विचारों को सुन्दर साहित्य कला के समाज के मूल में रहती है। इसी की प्रेरणा से स्थूल नीरस तथा विश्रृंखल विचारों को सूक्ष्म, सरल

और श्रृंखलाबद्ध साहित्यिक स्वरूप प्राप्त होता है। वैसे ही साहित्य के समाजशास्त्र में समाज से साहित्य के सम्बन्ध की व्याख्या पर जोर देता है। साहित्य और समाज का सम्बन्ध अत्यंत जटिल है। वह इसलिए कि रचनाकार समाज का जैसा का जैसा वर्णन नहीं करता है। वह अपनी रचना में सामाजिक यथार्थ का पुनर्निर्माण करता है इसलिए किसी रचना का समाजशास्त्रीय विवेचन करते समय रचना में पुनर्सृजित सामाजिक अंतर्वस्तु को वास्तविक सामाजिक परिवेश के संदर्भ में रखकर देखना चाहिए। उपर्युक्त प्रसंग के सन्दर्भ में शिवकुमार मिश्र ने अपनी पुस्तक ''साहित्य और सामाजिक संदर्भ'' में लिखते हैं कि ''साहित्य विश्लेषण का यह नज़रिया साहित्य को उसके सामाजिक स्त्रोतों और उसकी सूक्ष्म सामाजिक अंतर्वस्तु को मद्देनजर रखते हुए एक जीवंत रचनाशीलता के रूप में देखता और अपने विश्लेषण का विषय बनाता है।''[21] इस प्रकार कह सकते हैं कि साहित्य का समाजशास्त्रीय साहित्य की खोज रचना प्रक्रिया की सुरक्षा करते हुये उसकी सामाजिकता की खोज करता है। उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में रचना के मूल स्त्रोत, रचना की क्षमता, उसकी सीमा तथा प्रयोजनों का पता लगाना है। इसके लिये आलोचक को रचनाकार का व्यक्तित्व, रचना में चित्रित यथार्थ, यथार्थ को प्रस्तुत करने की पद्धति, एवं तत्सम्बन्धी भाव विचार आदि विषयों से गुजरना पड़ता है। ये विषय एक दूसरे से बिल्कुल निरपेक्ष नहीं होते हैं लेकिन रचना की क्षमता को निर्मित करने वाली परस्पर पूरक ईकाइयों के रूप में सामने आती है।

किसी भी रचना के ग्रहणशील होने की पहली शर्त होती है-उसकी पठनीयता और एक अच्छा आलोचक होने की सबसे प्राथमिक शर्त होती है कि शुरू से ही एक आलोचक के रूप रचना पर चढ़ बैठने की कसम खाकर न चला जाए, बल्कि रचना से पहली मुलाकात एक सहृदय पाठक के रूप में ही करने का उद्देश्य रखा जाए। इस उत्साह का धैर्य बनाए रखने में रचना जितनी दूर तक पाठक का सहयोग करती है उससे रचना की अंतर्वस्तु की आत्मीयता का प्रमाण

मिलता है। नेमिचंद्र जैन द्वारा सम्पादित मुक्ति बोध रचनावली-4, में मुक्ति बोध ने लिखा है कि ''आलोचक के लिये- लेखक का व्यक्तित्व, यथार्थ प्रस्तुत करने की उसकी पद्धति तथा उसके तत्सम्बन्धित भाव-विचार और अन्तत: वह यथार्थ जिसको प्रस्तुत किया गया है उन सबका वैज्ञानिक चित्र-उपस्थित करते हुये यह देखना जरूरी हो जाता है कि उसके साहित्य का मूल स्रोत क्या है; उसकी क्षमताओं का मूल उद्गम क्या है तथा उसकी सीमाएँ किस मूल कारणों से निष्पन्न हुयी हैं।''[22] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में साहित्य से जुड़े सभी पक्षों की सामाजिक भूमिका का मूल्यांकन होता रहता है। रचना में विचारधारा और अनुभव के रिश्ते को पहचानने में क्या कोई सरलीकृत सामाजिक भूमिका का मददगार हो सकता है।

राजेन्द्र कुमार के अनुसार, ''किसी कहानी की अन्तर्वस्तु का, उसके घेरे में आये अनुभवगत यथार्थ से जो सम्बन्ध बनता है, उसमें महत्व यथार्थ के यथावत् बने रहने का होता है, या सम्बन्ध के उस नये रूप का होता है; जो मूल और प्रत्यक्ष यथार्थ के साथ रचना खुद अपने स्तर पर बना लेती है।''[23] साहित्यकार जिस समाज में जीता है उसके यथार्थ का अनुभव वह अनेक रूपों में करता है। इन अनुभवों में से कुछ अनुभवों को लेखक अपनाता है और कुछ को छोड़ देता है। चुने हुये अनुभवों के रचना में विशिष्ट बोध बनाकर प्रस्तुत करता है। इस चुनाव की प्रक्रिया में वह यह देखता है कि सामाजिक यथार्थ का कौन सा पक्ष अधिक उपयोगी है। इतिहास प्रक्रिया की समझ से ही समाज से साहित्य के बदलते संबंध की पहचान संभव है। मात्र सामाजिक दृष्टि समकालीन सम्बन्ध तक सीमित हो जाती है और अनुभववाद का शिकार हो जाती है। इसलिये साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में सामाजिक दृष्टि के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि का भी मूल्यांकन करना पड़ता है। साहित्य और समाज की रचना प्रक्रिया का विषय उसके अन्तर्सम्बन्ध को दर्शाता है। विश्वम्भर दयाल गुप्ता ने लिखा है कि ''साहित्य के

अध्येता का लक्ष्य कृति में विद्यमान उन मानसिक संरचनाओं को खोज निकालना है जो लेखक की कल्पना के साथ संगठित होकर कृति में प्रतिबिम्बित हुयी हैं साथ ही उन संरचनाओं की ऐतिहासिक निर्मित और प्रक्रिया का विश्लेषण भी अपेक्षित है।''[24]

साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में ये दोनों ही रचना के स्वरूप के अनुसार उनके स्त्रोतों एवं प्रभावों पर प्रकाश डालता है। नेमिचन्द्र जैन (सम्पा) मुक्तिबोध रचनावली-4 में मुक्तिबोध ने ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति के व्यावहारिक रूप को स्पष्ट करते हुये लिखते हैं कि किसी भी साहित्य को तीन प्रकार से देखा जाना चाहिये। एक तो वह किन स्त्रोतों से उद्गत होता है अर्थात् किन वास्तविकताओं के परिणामस्वरूप वह साहित्य उत्पन्न हुआ है दूसरे उसका फलात्मक प्रभाव क्या है, और तीसरे उसकी अंत: क्रियारूप रचना कैसी है। इस तीसरे प्रश्न को बिना पहले प्रश्न से मिलाए हम दूसरे सवाल का जवाब ही नहीं दे सकते।''[25] अत: सिद्ध होता है कि इस अध्ययन से हमें सामाजिक वास्तविकता को अपनी सम्पूर्णता एवं साहित्य को समझने में मदद मिलती है। प्रत्येक साहित्यिक विधा के स्वरूप के अनुसार समाजशास्त्रीय पद्धति का प्रयोग करना चाहिये। तभी रचना की सार्थकता का समुचित विश्लेषण संभव होगा।

अत: साहित्य एवं समाज में उपन्यास के समाजशास्त्रीय अध्ययन से कविता का समाजशास्त्रीय अध्ययन में अन्तर होगा। कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन नाटक का समाजशास्त्रीय अध्ययन में भी अंतर होगा। समाजशास्त्रीय अध्ययन में कृति के विधागत अन्तर के अलावा उसके स्वरूप पर भी ध्यान देना जरूरी है। इसलिये वहाँ समाजशास्त्रीय विवेचन की सृष्टि करनी पड़ती है। विवेचन की दृष्टि एक होने पर भी रचना के स्वरूप के अनुसार विवेचन विधि भिन्न होगी। एक यथार्थवादी कृति का विवेचन जिस ढंग से करता है उसी ढंग से मनोवैज्ञानिक या स्वच्छंदतावादी कृति का नहीं कर सकता है। दोनों का अपना-अपना स्वरूप

है। स्वरूप की इस भिन्नता को हम अनदेखा नहीं कर सकते। यथार्थ के प्रति अपनाये जाने वाली दृष्टि के अनुसार ही कृति अपना स्वरूप ग्रहण करती है। प्राय: रचनाकार जीवन की कोई घटना, मनोभाव, व्यक्ति वैशिष्ट्य आदि का चित्रण रचना में करता है। जीवन की किसी घटना का चित्रण करते समय लेखक उसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक यथार्थ के साथ जोड़ देता है। राजेन्द्र कुमार लिखते हैं कि ''हृदय परिवर्तन जैसी प्रेमचंदीय प्रविधि क्या आज के जटिल से जटिलतर होते जाते जीवन में किसी चरित्र के लिये विश्वसनीय हो सकती है।''[26] लेकिन मनोभावों का चित्रण करते समय लेखक कभी यथार्थ के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता है। इसके बदले वह अपने पात्रों के ज़रिए यथार्थ के प्रति अपनाये जाने वाली प्रतिक्रिया का आविष्कार करता है। तब यथार्थ पृष्ठभूमि रहता है। अत: साहित्य एवं समाज में दोनों के रचनागत स्वरूप में बहुत भिन्नता होती है। इस अन्तर स्वरूप वाली रचनाओं को हम एक ही यथार्थवादी दृष्टि से नहीं आंक सकते है। नेमिचंद्र जैन (सम्पा) मुक्तिबोध रचनावली-4 से मुक्तिबोध ने लिखा है ''साहित्य दो प्रकार का होता है। एक वह जिसमें युग प्रवृत्तियों से संचालित-नियंत्रित होते हुए भी साहित्यकार सचेत रूप से उन प्रवृत्तियों को ग्रहण नहीं करता। इसका फल यह होता है कि वह साहित्य अपने में उन प्रवृत्तियों का विकृत असंस्कृत प्रतिबिम्ब ही लिये रहता है। दूसरा साहित्य इस प्रकार का होता है कि उसमें उन युग प्रवृत्तियों के वास्तविक अभिप्राय, गार्भितार्थ तथा उनके निर्माण कार्य अथवा विनाशकार्य आशय आदि को जागरूक प्रकार से ग्रहण किया जाता है और वर्तमान के पास मानव भविष्य को निहारा जाता है।''[27] उपर्युक्त विवेचन इस विषय पर बल देता है कि रचना-प्रक्रिया के स्वरूप के अनुसार समाजशास्त्रीय एवं साहित्यिक अध्ययन में भिन्नता होती है।

समाज एवं साहित्य का विशेष सम्बन्ध देखने को मिलता है। जिसमें कि साहित्य में समाज की खोज एवं समाज में साहित्य की खोज की दिशा अलग-अलग होती है। समाज में

विस्तार का एवं साहित्य में संक्षेप का मूल्यांकन होता है। जैसे कम में ज्यादा और ज्यादा में कम। साहित्य रचना का समूचा व्यवहार कल्पना पर आधारित होता है, इसके संदर्भ में मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि ''जीवन-जगत के बोध, यथार्थ की चेतना, चरित्रों के निर्माण, भावों-विचारों की व्यंजना के तरीकों की खोज और रूपशिल्प आदि के आविष्कार से लेकर भाषा की भंगिमाओं का विकास तक सब कुछ कल्पना की मदद से ही होता है।''[28] अत: साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में साहित्यिक कल्पना के सामाजिक अभिप्राय की पहचान आवश्यक हो जाती है। कल्पना की क्रियाशीलता विभिन्न विधाओं में एक जैसी नहीं होती है। उसी प्रकार एक ही विधा की विभिन्न पद्धतियों में भी कल्पना की क्रियाशीलता में अन्तर होता है। कल्पना की क्रियाशीलता विभिन्न विधाओं में एक जैसी नहीं होती है। उसी प्रकार एक ही विधा की विभिन्न पद्धतियों में भी कल्पना की क्रियाशीलता में अन्तर होता है। कल्पना की क्रियाशीलता के अध्ययन से उसमें निहित सामाजिक वास्तविकता और व्यंजना की शक्ति स्पष्ट हो जाती है। मैनेजर पाण्डेय ने अपनी पुस्तक ''आलोचना की सामाजिकता'' में लिखा है ''साहित्य के समाजशास्त्र में साहित्य के ज्ञानात्मक विश्लेषण के लिए कल्पना की इन भूमिकाओं की समझ जरूरी है। तभी सामाजिक यथार्थ के बोध और व्यंजना की शक्ति के रूप में कल्पना की क्रियाशीलता की पहचान होगी और उसकी स्वतंत्रता का भी महत्व सामने आयेगा। स्वतंत्रता विरोध और आलोचना की शक्ति के रूप में कल्पना की गतिविधि का विवेचना साहित्य के समाजशास्त्र को अधिक समृद्ध बनाएगी। कभी-कभी कल्पना एक वैकल्पिक लोक और व्यवस्था का निर्माण करती हुयी समकालीन समाज-व्यवस्था का विरोध करती है। कल्पना की यह भूमिका भी साहित्य के समाजशास्त्र में विचारणीय है।''[29] इस प्रकार साहित्य एवं समाज के अध्ययन में साहित्यिक कल्पना तथा सामाजिक अंतर्दृष्टि की खोज की जा सकती है। साहित्य की समाजशास्त्रीय दृष्टि ने रचना के स्वायत्त तंत्र को स्वीकारा है लेकिन उसका रूप साहित्यकारों

से इस प्रकार से भिन्न दिखता है कि वह कला के स्वायत्त संसार को जीवन निरपेक्ष या समाज निरपेक्ष नहीं मानता है।

### 1.1.3 साहित्य एवं समाज का बाह्य पक्ष:-

साहित्य समाज की चेतना में जन्म लेता है। यह समाज का वह परिधान है जो जनता के जीवन के सुख-दुख, हर्ष-विषाद, आकर्षक-विकर्षक के ताने-बाने से बुना जाता है। उसमें विशाल मानव-जाति की आत्मा का स्पन्दन ध्वनित होता है। वह जीवन की व्याख्या करता है। इससे उसमें जीवन देने की शक्ति आती है। वह मानव को उसके जीवन को लेकर ही जीवित है, इसीलिए वह पूर्णत: मानव केन्द्रित है। साहित्य उसी मानव की अनुभूतियों, भावनाओं और कलाओं का साकार रूप है एवं मानव प्राणी है। सामाजिक समस्याओं, विचारों तथा भावनाओं का जहाँ वह सृष्टा होता है वहीं वह उनसे स्वयं भी प्रभावित होता है। इसी प्रभाव का मुख्य रूप साहित्य है। इसी से विद्वानों ने साहित्य को समाज का दर्पण कहा है। साहित्य का अर्थ है- जो हित सहित है। भाषा के माध्यम से ही साहित्य हितकारी रूप में प्रकट होता है। भाषा मनुष्य की सामाजिकता को विशेष रूप से पुष्ट करती है। उसी के द्वारा मानव-समाज में एक-दूसरे के सुख-दुख में भाग लेने की सहकारिता का भाव उत्पन्न होता है। साहित्य मानव के पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों को और भी अधिक दृढ़ बनाता है, क्योंकि उसमें सम्पूर्ण मानव-जाति का हित सम्मिलित रहता है। साहित्य, साहित्यकार के भावों का समाज में प्रसार है जिससे सामाजिक जीवन स्वयं मुखरित हो उठता है क्योंकि साहित्यकार सामाजिक प्राणी होता है। समाज की उन्नति तभी सम्भव है। जब हमारा हृदय संवेदनशील तथा बुद्धि विकसित और परिष्कृत हो। इन दोनों कार्यों के लिए साहित्य सबसे प्रभावशाली साधन है। वह हमारे हृदय को संवेदनशील बनाता है। हमारी अनुभूतियों का परिष्कार करता है।

साहित्य-सेवन से हमारा मन परिष्कृत और हृदय उदार हो जाता है। साहित्य का आनन्द लेने के लिए हमें सतोगुणात्मक वृत्तियों में रमने का अभ्यास हो जाता है। साहित्य-सेवन से मनुष्य की भावनाएँ कोमल बनती हैं। उसके भीतर मनुष्यता का विकास होता है। शिष्टता और सभ्यता आती है जिससे दूसरों के साथ व्यवहार करने की कुशलता प्राप्त होती है। इससे समाज में शान्ति की स्थापना होकर विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। अत: सामाजिक जीवन में साहित्य का महत्त्व निर्विवाद है। जीवन के सुचारू संचालन के लिए व्यवहार-कुशलता की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है। अमंगल से रक्षा हुये बिना जीवन अभिशाप बन जाता है। मधुर उपदेश के प्रभाव के उदाहरण स्वरूप सम्पूर्ण साहित्य उपस्थित किया जा सकता है। जब अनेक नीति-शास्त्र उपदेश और ताड़ना हमें समझाने में असमर्थ रहते है उस समय भी मधुरता और कोमलता से भरी यह वाणी हमें वश में करके हमसे जो चाहती है वह करा लेती है और उपर्युक्त प्रयोजनों की आवश्यकता हमें तभी पड़ती हैं जब हम समाज के एक अभिन्न अंग होते है। वनवासी, समाज के विच्छिन्न एकान्त में जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति के लिए इनकी कोई आवश्यकता नहीं होती है फिर भी हम समाज, सामाजिक मनुष्य और साहित्य को पृथक करके कैसे देख सकते हैं? आज तक विभिन्न धर्मों संस्कृतियों और सभ्यताओं का प्रधान उद्देश्य और प्रयत्न-मानव जीवन को अधिक से अधिक सुन्दर और आनन्दमय बनाने का रहा है। विज्ञान ने सदैव से प्रयत्न किया है कि वह मानव को भ्रम के भार से यथाशक्ति मुक्त कर उसे शारीरिक और भौतिक सुविधा प्रदान कर सके।

राजनीति समाज को आर्थिक एकता के सूत्र में बद्ध करने तथा उसकी सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील है और दर्शन आध्यात्मिक सिद्धान्तों की खोज और प्रसार द्वारा मानव का और सांसारिक माया-मोह के प्रति अधिक आसक्त रहने का पाठ पढ़ाने का प्रयत्न करता आया है। परन्तु इनका यह काम बिना कवि की सहायता के पूर्ण नहीं हो सकता क्योंकि मानव नीरस

उपदेश नहीं सुनना चाहता। समाज के लिये भौतिक सुविधा भी उतनी ही आवश्यक है जितनी कि दार्शनिक सिद्धान्तों की परन्तु वह इन सबसे ऊपर उस सत्य और सौन्दर्य को प्राप्त करना और उसका उपभोग करना चाहता है जो उसे जीवन की प्रत्येक सम-विषम परिस्थितियों में अनुप्राणित कर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता रहता है। साहित्यकार जब इन भौतिक सुविधाओं और दार्शनिक सिद्धान्तों को कलात्मक ढंग से उपस्थित करता है तभी हमारे मन में उनके प्रति अनुराग और पावन भावना उत्पन्न होती है। ऐसा होने पर हमारे मन में ओज, बाहुओं में बल, मुख पर प्रसन्नता, हृदय में उत्साह और प्रेम, बुद्धि में विवेक तथा आत्मा में आनन्द-उल्लास प्रवाहित होता है। कवि का सत्य हमारे जीवन का सत्य है और हमारे हृदय और भावनाओं का सत्य है जिसके माध्यम से हम एक-दूसरे से मिले हुए है इसलिये सामाजिक उन्नयन में साहित्य का महत्व सर्वोपरि और सर्वप्रमुख है। साहित्य समाज में प्रचलित गलत भ्रान्तिपूर्ण तथा अन्याय अत्याचार का समर्थन करने वाली रूढ़ियों मान्यताओं आदि का वास्तविक गर्हित रूप अंकित कर उनके विरोध में आवाज उठाता है। सामाजिक उन्नयन का यह भी एक रूप है। हमारे सामाजिक जीवन की उन्नति सुव्यवस्था और परिपूर्णता के लिये शान्ति और सहयोग की आवश्यकता है। साहित्य का कान्ता-सम्मित मधुर उपदेश बड़ा प्रभावशाली होता है। केशव के एक छन्द ने बीरबल को प्रसन्न कर राजा इन्द्रजीत सिंह पर किया हुआ जुर्माना माफ करवा दिया था। पृथ्वीराज के साहित्यिक पुत्र ने महाराजा प्रताप को पुन: अकबर से युद्ध करने के लिये आबद्ध कर दिया था। बिहारी के एक दोहे ने मिर्जा राजा-जयसिंह का जीवन बदल दिया था। आल्हा को पढ़ या सुनकर आज भी वीरों के भुजदण्ड फड़कने लगते हैं। यह हुआ हमारे सामाजिक जीवन के बाह्य पक्ष पर साहित्य का प्रभाव।

### 1.1.4 समाज एवं साहित्य का आन्तरिक पक्ष:-

साहित्य एवं समाज हमारे जीवन के प्रमुख अंग हैं। हमारे जीवन में विभिन्न प्रकार से महत्व रखते हैं। हमारे जीवन के आंतरिक विकास के लिए साहित्य हमारे हृदय में अलौकिक आनन्द की सृष्टि करता है। इस प्रकार साहित्य हमारे बाह्य पक्ष एवं आंतरिक पक्ष जीवन को निरंतर प्रभावित करता रहता है। जीवन की पूर्णता के लिए तथा उसको सुन्दर, मधुर, सरस और व्यापक बनाने के लिये साहित्य का योगदान अविस्मरणीय माना जाता है। इसके अतिरिक्त हमारे विफलता एवं किंकर्तव्यविमूढ़ता के अवसर पर साहित्य हमारी सहायता कर हमारी निराशा को दूर करता है। इस प्रकार साहित्य माता के समान हमारा पालन करती है। पिता के समान रक्षा एवं वृद्धि करता है। गुरु के समान शिक्षा देता है। सुहृदय के समान मार्ग दिखाता है एवं प्रिया के समान मधुर स्नेह की साकार मूर्ति बनकर सामने आता है। ऐसे साहित्य से हमारे जीवन का अटूट सम्बन्ध रहता है। समाज एवं साहित्य का उपर्युक्त सम्बन्ध अनादि काल से साहित्य के उदय काल से चला आ रहा है। वाल्मीकि ने अपनी रामायण में एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था का चित्रण कर अपने दृष्टिकोण के अनुसार समाज के विभिन्न पहलुओं की विवेचना करते हुये यह सिद्ध किया कि समाज एवं मानव किस पथ का अनुसरण करने से पूर्ण संतोष और सुख का अनुभव कर सकता है। तुलसी ने भी अपने समय की सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर राम राज्य और राम-परिवार को मानव-समाज के सम्मुख आदर्श रूप में प्रस्तुत किया। इसका कारण है कि कवि वास्तव में समाज की अवस्था, वातावरण, धर्म, कर्म, रीति, नीति तथा सामाजिक शिष्टाचार अथवा लोक व्यवहार से ही अपने काव्य के उपकरण चुनता है और उनका प्रतिपादन अपने आदर्शों के अनुरूप ही करता है। साहित्यकार उसी समाज का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें वह जन्म लेता है। वह अपनी समस्याओं को सुलझाना, अपने आदर्श की स्थापना अपने समाज के आदर्शों के अनुरूप ही करता है। जिस सामाजिक वातावरण में उसका

जन्म होता है उसी में उसका शारीरिक बौद्धिक और मानसिक विकास भी होता है। इस प्रकार साहित्यकार जिस समाज का अंग होता है उस समाज की ही चित्रण करता है। यह दूसरी बात है कि वह इस चित्रण में समाज के सुधार की भावना से प्रेरित होकर एक आदर्श की स्थापना करता है अथवा उसका यथातथ्य चित्रण कर केवल एक संकेत देकर दूर हट जाता है। जिससे समाज उस चित्रण पर मनन करने के लिये विवश हो जाये। ऐसे साहित्यकार युग-युग तक समादृत होते हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी साहित्यकार होते हैं जो समाज का यथा तथ्य चित्रण कर कोई सुझाव अथवा आदर्श उपस्थित करने में असमर्थ रहते हैं। समाज ऐसे साहित्यकारों की ओर एक बार दृष्टि डाल दिया तो उन्हें सदैव के लिये भूल जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी साहित्यकार होते है जो अपने युग और समाज की उपेक्षा कर विदेशी साहित्यकारों की नकल करते हुये ऐसे साहित्य का सृजन करते हैं जिसमें उनका युग और समाज प्रतिबिम्बित नहीं होता है। ऐसा साहित्य क्षणजीवी होता है। साहित्य में कला, कला के लिए सिद्धांत समर्थक जीवन अथवा समाज में कला और साहित्य का कोई स्थान नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि साहित्य हमारी कल्पना का खिलवाड़ है। क्रोचे ने इन्ट्यूशन को जिसे सामान्य भाषा में इलहामवाद कहा जा सकता है साहित्य का प्रेरक कहा जा सकता है उनका कहना है कि हमारे मन में कभी-कभी ऐसी कल्पनायें उठती हैं जिनका प्रत्यक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं होता है परन्तु कल्पना का कोई न कोई आधार अवश्य रहता है। इसलिये साहित्य चाहे रोमांटिक हो अथवा यथार्थवादी, प्रगतिशील हो अथवा काल्पनिक अथवा वास्तविक हो-कल्पना का भाग सब में कुछ न कुछ अवश्य रहता है और यह कल्पना केवल शून्य का आधार लेकर हवाई महलों का निर्माण नहीं कर सकती है।

कल्पना का आधार भी वास्तविक जगत और समाज ही होता है। कवि अपने युग, अपने समाज, परिस्थिति की उपेक्षा कर मात्र कल्पना के आकाश में विचरण नहीं कर सकता

है। कोई भी साहित्यकार वास्तविकता की पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकता है। समाज की जो समस्यायें है उनका जो रूप है उन्हीं के आधार पर साहित्य की सृष्टि हो सकती है। इसलिये साहित्य को समाज से पृथक करके नहीं देखा जा सकता है। साहित्यकार समाज का मुख और मस्तिष्क दोनों होता है। उसकी पुकार समाज की पुकार होती है। उसकी बनाई हुई सामाजिक भावों की मूर्ति समाज की नेत्री बन जाती है। इस प्रकार वह अपने समाज का उन्नायक और विधायक होता है। हम उसके द्वारा समाज के हृदय तक पहुँच जाते हैं। वह भी साहित्य का प्रभाव ही होता है। कोई भी साहित्यकार हो अथवा कवि या लेखक अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसको जैसा मानसिक स्वाद मिल जाता है वैसी ही उसकी कृति होती है। वह अपने समय के वायुमण्डल में घूमते हुये विचारों को मुखरित कर देता है। कवि वह बात कहता है जिसका सब लोग अनुभव करते हैं किन्तु जिसको सब लोग कह नहीं सकते हैं। सहृदयता के कारण उसकी अनुभव-शक्ति औरों से बढ़ी-चढ़ी रहती है।

इसलिये यदि साहित्यकार समाज में असम्पृक्त कला का ही चित्रण करना चाहेगा तो वह अपने समाज से अछूता कैसे रह सकता है। प्रकट या अप्रकट रूप से उस पर सामयिक विचारधाराओं और परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ेगा। प्रत्येक युग का साहित्य इसका प्रमाण है। हमारे पौराणिक साहित्य में ब्राह्मण धर्म की जय घोषणा की गई। बौद्ध-युग और वैष्णव युग में साहित्य द्वारा भी साहित्यकारों ने अपने-अपने सम्प्रदाय और उसके महत्व का प्रचार किया था। इसलिये युग-समस्या की उपेक्षा कर यदि कोई कलाकार की सृष्टि करना चाहेगा तो वह कला मिथ्या तथा कृत्रिम होगी। उसकी सामाजिक उपादेयता नगण्य होगी और ऐसा होने पर उसका अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। ऐसा साहित्य क्षणजीवी होता है। साहित्य समाज का प्रतिबम्ब है। लेकिन कुछ साहित्य-प्रेमी इस प्रतिबिम्ब में अपनी रसिक आकृति के सिवा और कुछ भी नहीं देखना चाहते हैं। वे इस बात का विरोध करते हैं कि साहित्य में सौन्दर्य के और

वह भी निष्क्रिय सौन्दर्य के अतिरिक्त और किसी प्रकार का चित्रण होना चाहिये क्योंकि उनकी दृष्टि साहित्य केवल हमारे मनोरंजन का साधन है न कि हमें उसमें उपयोगिता ढूँढ़नी चाहिए।

इस प्रकार साहित्य और समाज निरन्तर एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। दोनों में आदान-प्रदान तथा क्रिया-प्रतिक्रिया का भाव चलता है। इसी से सामाजिक उन्नति की आधारशिला दृढ़ बनती है। संसार में अभी तक हुये सम्पूर्ण परिवर्तनों या विप्लवों के मूल में कोई न कोई विचारधारा कार्यरत रहती है।

### 1.1.5 समाज साहित्य : विचारधारा-

साहित्य-समाज हमारे ज्ञान, सामाजिक दायित्व को प्रभावित करते हैं। इस विचारधारा का चित्रण साहित्य द्वारा होता है। वह साहित्य हमारे ज्ञान को विस्तृत कर हमारे वर्तमान जीवन की विषमता का चित्रण कर हमें वर्तमान के प्रति असंतुष्ट बनाता है। उसके द्वारा जब हम दूसरों से अपनी अवस्था की तुलना कर अपने को हीन महसूस करते है तब हमारे हृदय में असन्तोष की अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। फ्रांस की प्रसिद्ध राज्य-क्रांति के मूल में वाल्तेयर तथा रूस के क्रान्तिकारी विचार कार्य कर रहे थे। रूस की राज्य-क्रांति भी रूसी लेखकों के उग्र विचारों का ही प्रतिफल थी। भारतीय स्वाधीनता-संग्राम में स्वंतत्र देशों की क्रान्तिकारी विचाराधारा से प्रभावित साहित्य ने बहुत बड़ा भाग अदा किया था। यह तो हुआ साहित्य का साहित्य पर विचारधारा का प्रभाव। इसके विपरीत कुछ साहित्यकार ऐसे भी होते हैं जो दूसरी जाति को पराधीन बनाने के लिए उसकी सभ्यता और संस्कृति का बड़ा विकृत चित्रण करते हैं। आयरलैण्ड के स्वाधीनता संग्राम के पीछे उसके शासक और प्रतिपक्षी इंग्लैण्ड के कतिपय साहित्यकारों का यही प्रयत्न कार्य कर रहा था। उन लोगों ने आयरिश जाति में ऐसे साहित्य का वितरण किया जो उस जाति के जातीय-साहित्य और संस्कृति के आदर्श को ध्वंस कर उनकी

अपनी दृष्टि में आयरलैण्ड के अतीत को निन्दनीय सिद्ध कर उनके मन में शासक-जाति के प्रति मर्यादा का भाव जाग्रत कर सके। पार्नेल के राजनीतिक जीवन के अवसान के बाद आयरिश-देशभक्तों का ध्यान इस घातक और विषम स्थिति के प्रति आकर्षित हुआ। तब साहित्य साधना के मार्ग द्वार आयरिश-जाति में नूतन जीवन का उद्बोधन करने की चेष्टा होने लगी। आयरिश-साहित्यकारों ने अंग्रेजों द्वारा किये जाने वाले घातक प्रचार का पर्दाफाश करते हुये अपनी संस्कृति, इतिहास और देश की महानता के गीत गाये। भारत में भी अंग्रेजों ने यही किया था। लार्ड मैकाले जैसे अंग्रेज साहित्यकारों ने भारत के इतिहास भाषा, संस्कृति और साहित्य के सम्बन्ध में तथ्यहीन, अनर्गल बातों का प्रचार कर भारतीयों के हृदय में भारत के प्रति हीनता और उपेक्षा की तथा अंग्रेज, अंग्रेजी और अंग्रेजियत के प्रति सम्मान की ऐसी भावना उत्पन्न कर दी थी जिससे हम आजाद होने के लगभग चालीस वर्ष बाद आज भी मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। नीत्शे आदि जर्मन दार्शनिकों के विचार, जिन्होंने जर्मन जाति में शक्ति की उपासना तथा अपनी सभ्यता के विस्तार के भाव उत्पन्न किये थे विगत विभिन्न यूरोपीय महासागरों के लिये उत्तरदायी है। वीरगाथा कालीन चरणों के उत्तेजनापूर्ण छन्द अपने आश्रयदाताओं को उत्तेजित कर सदैव मार-काट के लिये प्रेरित करते रहते हैं। इसी प्रकार केवल श्रृंगार का ही अतिशय और नग्न चित्रण करने वाले साहित्यकार विलासिता की भावना को ही प्रोत्साहित करता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाज और साहित्य में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने पर भी दोनों में थोड़ा-सा अन्तर रहता है। जीवन की धारा अक्षुण्ण है। साहित्य में उसकी प्राणदायिनी और रमणीय बूँदें एकत्रित होने लगती हैं। सामाजिक जीवन तो अनेक नियमित-अनियमित ज्ञात-अज्ञात घटनाओं की श्रृंखला का समष्टि रूप है। यह सत्य है कि समकालीन समाज साहित्य को प्रभावित करता रहता है परन्तु साहित्यकार का सम्बन्ध केवल वर्तमान से ही न होकर अतीत और भविष्य से भी होता है। महान कलाकार तो देश और काल की सीमा

से ऊपर उठ सार्वभौम समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके लिये सामयकि और स्थानीय जीवन का उतना ही महत्व है- जितना वह उनके विराट सर्वकालीन यथार्थ जीवन की कल्पना में सहायक बन सकता है। इसके अतिरिक्त साहित्य में कुछ ऐसा विशिष्ट वर्णन होता है जो यथार्थ जीवन से मेल नहीं खाता है। इसका कारण यह है कि साहित्य में मानव का जीवन ही नहीं , जीवन की वे कामनायें भी जो अनन्त जीवन में पूर्ण नहीं हो सकती निहित रहती हैं। साहित्य जीवन की इन्हीं अपूर्णताओं को पूर्ण करता है तभी वह जीवन से अधिक सारवान और परिपूर्ण है तथा जीवन का नियामक और मार्गद्रष्टा भी है जो साहित्य एवं समाज में अपना स्थान बनाती है। समाज एवं साहित्य मानव-जीवन के लिये प्रमुख हैं।

**1.2 समाजशास्त्रीय अध्ययन : पाश्चात्य एवं भारतीय विचारक:-**

समाजशास्त्र समाज में रहने वाले समूह एवं उनके मूल्यों का अध्ययन करता है और वही साहित्य की धारणा बन कर समाज का स्वरूप धारण करता है। समाज के मूल्य व्यवस्था को प्रभावित करती है। समाज एक उद्देश्यपूर्ण समूह होता है जो किसी एक क्षेत्र में बनता है। उसके सदस्य एकत्व एवं अपनत्व में बँधे होते हैं और मनुष्य चिन्तनशील मनुष्य है। मानव ने अपने लम्बे इतिहास में एक समूह का निर्माण किया। वह ज्यों-ज्यों मस्तिष्क जैसी अमूल्य शक्ति का प्रयोग करता गया उसकी जीवन पद्धति बदलती गयी और जीवन पद्धतियों के बदलने से आवश्यकताओं में परिवर्तन हुआ और इन आवश्यकताओं ने मनुष्य को एक सूत्र में बाँधना प्रारम्भ किया एवं इस बंधन से संगठन बने और यही संगठन मानव का समाज के साथ वही घनिष्ठ सम्बन्ध है जैसे शरीर में शरीर के किसी अवयव के साथ होता है। समाज में अगणित समूह होते हैं। इन समूहों को एथनिक समूह कहते हैं। इन एथनिक समूहों की अपनी एक संस्कृति होती है एक सामान्य भाषा होती है। खान-पान होता है, जीवन पद्धति होती है एवं तिथि त्यौहार होते हैं। इस तरह की बहुत उपसंस्कृतियाँ जब देश के क्षेत्र में मिल जाती हैं तब वे एक विस्तृत

संस्कृति का निर्माण करती हैं। दूसरे शब्दों में, समाज की संस्कृति अपने आकार-प्रकार में विस्तृत होती है जिसमें अगणित उप-संस्कृतियाँ होती हैं।

भारतीय समाज की पद्धति एक समाज व्यवस्था को उसके मूल्यों में भारतीय विचारक एवं पाश्चात्य विचारक के गतिविधियों का अध्ययन करती है। जैसे भारत में स्वतंत्रता के पूर्व तो समाजशास्त्र का इतना विकास न हो सका किन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् समाजशास्त्र के विकास ने तेज रफ्तार पकड़ ली। 1947 के बाद भारत देश के अलग-अलग हिस्सों में समाजशास्त्र के विभागों की स्थापना होने लगी। उत्तर प्रदेश के बड़े हिस्सों में समाजशास्त्र विभाग की स्थापना हुई। इसके साथ ही साथ बिहार, राजस्थान, गुजरात, मध्य प्रदेश, कर्नाटक व पंजाब में समाजशास्त्र विषय को अपनाया जाने लगा और लोगों की इसमें रूचि बढ़ने लगी। भारत में समाजशास्त्र के विकास में डॉ0 राधा कमल मुखर्जी एवं जी0 एस0 घुर्ये के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

समाजशास्त्र को बनाने में जिन भारतीय विचारक एवं पाश्चात्य विचारक का योगदान उल्लेखनीय रहा है उनका वर्णन इस प्रकार है-

### 1.2.1 समाज : प्रमुख पाश्चात्य विचारक-

समाज का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने वाले एवं समाजशास्त्र को अस्तित्व में लेकर आने वाले समाजशास्त्र के पाश्चात्य विचारकों ने इसे वैज्ञानिकता से जोड़ने में विचारकों का योगदान रहा है वे निम्नलिखित हैं-

### 1.2.2 विल्फ्रेडो पेरटो:-

समाजशास्त्री एवं पाश्चातय विचारकों में विल्फ्रेडो परेटो का समाजशास्त्र में विशिष्ट स्थान है। उनका खास व्यक्तित्व ही उन्हें प्राय: सभी समाजशास्त्रियों से भिन्न रखता है। इस संदर्भ में

प्रशान्त त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'विल्फ्रेडो परेटो एक समाजशास्त्रीय अध्ययन' में लिखा ''विल्फ्रेडो परेटो एक कुशल अभियन्ता, योग्य प्रशासक, तत्कालीन इटली का अग्रगण्य राजनैतिक व्यक्तित्व, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री, प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री, महान् समाजशास्त्री तथा प्रकाण्ड विद्वान और उद्भट लेखक था।''[30] परेटो के समाजशास्त्री अध्ययन में आधारभूत इकाई व्यक्ति ही है। उनका मानना है कि समाज व्यक्तियों से बना है। व्यक्तियों की भावनाओं और व्यवहार के कुल योग से ही समाज बनता है। मुजतबा हुसैन अपनी पुस्तक 'समाजशास्त्री विचार' में लिखती हैं कि ''परेटो ने सबसे पहले समाज को एक समाज व्यवस्था कहा। समाज व्यवस्था का सर्वमहत्त्वपूर्ण लक्षण संतुलन है। समाज व्यवस्था के अनेक पक्ष हैं। व्यवस्था में आर्थिक, राजनैतिक, परिवार और नातेदारी, नैतिकता आदि प्रणालियाँ होती हैं। यह सभी पक्ष एक साथ जुड़े होते हैं। वे एक व्यवस्था के रूप में कार्य करते और अंतर्सम्बंधित रहते हैं। इसीलिए समाज एक व्यवस्था है।''[31] परेटो की समाजशास्त्र को सबसे बड़ी देन अभिजन और अभिजन के प्रारिभ्रमण की धारणा है। समाज में सारी शक्तियों का मालिक अभिजन होता है। और वह अपनी इच्छा और हित के अनुरूप ही कार्य करता है। परेटो समाजशास्त्र के अंतर्गत अतार्किक क्रियाओं के अध्ययन पर जोर देते हैं। उनका मानना हैं कि मानवीय मामले अधिकतर अतर्कपूर्ण होते हैं। परेटों के समाजशास्त्र में मानव जाति के व्यवहार में पाये जाने वाले अतर्कपूर्ण पक्षों को तर्कपूर्ण पक्ष से समझने की दृष्टि मिलती है।

### 1.2.3 इमाईल दुर्खिम:-

समाजशास्त्र का जनक ऑगस्ट कॉम्टे को कहा जाता है तो वहीं इमाईल दुर्खिम समाजशास्त्र को विषय के रूप में दुनिया के सामने लाने वाला चिंतक है। दुर्खिम ने वर्षों तक समाजशास्त्र को विषय के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया और अंत में वह सफल भी हुए। चित्रा त्रिपाठी ने इमिल दुरखाइम : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन में लिखा है कि

''समाजशास्त्र को संसार में पहली बार पेरिस विश्वविद्यालय में पढ़ाया जाने लगा। वहाँ शिक्षा शास्त्र विभाग को बदलकर Department of Science of Education and Sociology कर दिया गया।''[32] दुर्खिम द्वारा श्रम विभाजन का सिद्धान्त, सामाजिक एकता का सिद्धान्त, सामूहिक चेतना का सिद्धांत, आत्महत्या का सिद्धांत दिया गया। दुर्खिम व्यक्ति को महत्वपूर्ण मानते हैं किन्तु समूह और संरचना को व्यक्ति से भी अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। दुर्खिम के पद्धतिशास्त्र में समाजशास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन का प्रयास किया गया और इसके लिये सामाजिक तथ्य की अवधारणा को समझना आवश्यक है। चित्रा त्रिपाठी लिखती हैं कि ''सामाजिक तथ्य की अवधारणा को दुरखाइम के पद्धतिशास्त्र का केन्द्र तथा समाजशास्त्र को दुरखाइम की एक महत्वपूर्ण देन माना जा सकता है।''[33] दुर्खिम की यह धारणा सामाजिक तथ्यों को वस्तु के रूप में देखती है। वस्तु अर्थात् मूर्त रूप में देखना। सामाजिक तथ्य भौतिक और अभौतिक होते हैं। उसे पूर्वानुमान, पूर्व विचार या पूर्व धारणाओं से मुक्त कर 'वस्तु' के रूप में अलोकित किया जाना चाहिये। सामाजिक तथ्य वैयक्तिक चेतना से बाहर तथा बाध्यता मूलक है। उन्हें मानसिक क्रियाओं की अपेक्षा निरीक्षण और प्रयोग के द्वारा समझने पर बल दिया है।

### 1.2.4 कार्ल मार्क्स:-

समाज अथवा समाजशास्त्र जैसे विषय को लेकर कार्ल मार्क्स का योगदान महत्वपूर्ण है। ''कार्ल मार्क्स का जन्म 5 मई, 1818 ई0 को ट्रीर (ट्रेव्स) नगर में हुआ था, जो पश्चिमी जर्मनी के राइनलैण्ड के वेस्ट फालिया इलाके में है।''[34] जर्मनी दार्शनिक समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री कार्ल मार्क्स अपने क्रांतिकारी विचारों से समाज के सभी वर्गों को प्रभावित करते रहे हैं। मार्क्स द्वारा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत दिया गया। मार्क्स पर उस समय के प्रसिद्ध विचारक हीगेल का प्रभाव माना जाता है। इस पर शिवकुमार मिश्र ने मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन : इतिहास तथा सिद्धांत में लिखा है कि ''मेरी द्वन्द्वात्मक पद्धति हेगेलियन पद्धति से भिन्न ही

नहीं, उसकी प्रत्यक्ष विरोधी भी है। हेगेल के लिए विचार प्रक्रिया, जिसे उसने idea या प्रत्यय कहा है वस्तुजगत की स्रष्टा है और वस्तुजगत उस या idea प्रत्यय का बाह्य प्रतिबिम्ब, जबकि मेरे लिये idea या प्रत्यय और कुछ नहीं मानवीय मस्तिष्क द्वारा प्रतिबिम्बित भौतिक जगत का ही प्रतिरूप है।''[35] इस प्रकार मार्क्स के कहने पर स्पष्ट हो जाता है कि हेगेल और मार्क्स का द्वन्द्ववाद ज्यों का त्यों नहीं है। मार्क्स और हीगेल ने भावीवादी आवरण को उतारकर, विज्ञान के नव्यतम संदर्भों से उसे जोड़ा उसे एक भौतिकवादी अध्ययन-पद्धति के रूप में प्रतिष्ठित किया। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की व्याख्या चार मूलभूत नियमों से की है। परस्पर विरोधों में एकता, परिमाणात्मक परिवर्तन का गुणात्मक परिवर्तन में रूपान्तर निषेध के निषेध का नियम और गतिशीलता का नियम। मार्क्स के द्वन्द्वात्मकता से अभिप्राय है दो विरोधी शक्तियों में संघर्ष एवं सहयोग की निरंतर चलने वाली प्रक्रिया।

संघर्ष का पक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण है। यही परिवर्तन का कारण है। मार्क्स ने समाज का अध्ययन संपूर्णता में किया। मार्क्स के अनुसार समाज मनुष्यों का ऐसा संग्रह है जो एक निश्चित भू-भाग पर बसता है। समाज के सदस्य अपनी आर्थिक जरूरतों की पूर्ति के लिये श्रम करते हैं। प्रत्येक समाज के उत्पादन की एक शैली होती है जिससे समाज का चरित्र तय होता है कि वहां कौन सा समाज है। समाज में यदि विरोधी शक्तियों को गत्यात्मक संतुलन की दृष्टि से देखें तो विश्लेषण के दो पक्ष हैं- आधार रचना और अधिसंरचना। आधार रचना में उत्पादन की शैली और अधिसंरचना में- राजनैतिक संस्थाएँ, धर्म, मूल्य, परिवार, नातेदारी, नियम, जीवन शैली आदि होते हैं। आधार रचना और अधिरचना में द्वन्द्वात्मक संबंध होते हैं। उत्पादन की शैली के आधार पर प्रत्येक युग आदिम समाज, एशियाई समाज, प्राचीन/गुलाम समाज, सामंती समाज, पूँजीवादी समाज, समाजवादी समाज और साम्यवादी समाज के रूप में परिवर्तन के क्रम में सामने आया। मार्क्स द्वारा साम्यवादी समाज का सपना देखा गया। मार्क्स के विचारों में वर्ग की

धारणा को केन्द्रीय स्थान मिला है। मूल वर्ग मार्क्स ने मालिक और श्रमिक माने हैं। उत्पादन की शक्तियों पर मालिक और उत्पादन की प्रक्रिया में शामिल श्रमिक वर्ग होता है।

### 1.2.5 हर्बर्ट स्पेन्सर:-

समाज के समाजशास्त्री विचारक के रूप में हर्बर्ट स्पेन्सर भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनका डर्बी. इंग्लैण्ड में 1820 ई0 में जन्मे हर्बर्ट स्पेन्सर समाजशास्त्र के क्षेत्र में ऑगस्ट कॉम्टे के कार्य को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण चिन्तक के रूप में उभरकर सामने आए। ऑगस्ट कॉम्टे ने समाज के लिए जैसे विज्ञान की भूमिका को महत्वपूर्ण समझा था ठीक वैसे ही स्पेन्सर ने भी डार्विन के 'प्राकृतिक चयन' (नैचुरल सिलेक्शन) के सिद्धांत की तरह मानवीय समाज के 'उद्विकासीय प्रक्रिया' से गुजरने की बात की। स्पेन्सर के अनुसार जिस तरह प्राकृतिक चयन के सिद्धांत में बलशाली जीव जीवित रह जाते हैं। ठीक उसी प्रकार समाज में भी जो व्यक्ति अपने परिवेश से अनुकूलन स्थापित कर लेगा वह जीवित रहेगा और असमर्थ रहने वाला जीवित न रह पायेगा। स्पेन्सर के इस सिद्धांत को सामाजिक डार्विनवाद के नाम से भी जाना जाता है। स्पेन्सर ने मानवीय समाज को एक सावयव के रूप में स्वीकारा है। जो निरंतर आगे बढ़ता जाता है सरल रूप से जटिल रूप में।

हरिकृष्ण रावत ने लिखा है कि ''अपनी जटिल व्यवस्था को बनाये रखने के लिए इसमें संसाधनों के लिये अत्यधिक प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो जाती है जिसे स्पेन्सर ने योग्यतम् की उत्तरजीविता (सरवाइवल ऑफ द फिटेस्ट) का नाम दिया।''[36] स्पेन्सर व्यक्तिवाद के घोर समर्थक थे। वो खुली प्रतियोगिता को सर्वोत्तम मानते थे। अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में निजी उद्योग व्यवस्था के प्रखर समर्थक थे। स्पेन्सर ने वस्तुनिष्ठ दृष्टि व विश्लेषण से ही सही व सार्थक निष्कर्ष निकालने की बात कही। स्पेन्सर राज्य के हस्तक्षेप से समाज की व्यवस्था गड़बड़ाने की

बात कहते हैं। उनका मानना है कि अगर सरकार गरीबों के कल्याण के लिये कानून बनायेगी, तब उद्विकास की प्रक्रिया गड़बड़ हो जायेगी। हर्बर्ट स्पेन्सर योजना बद्ध समाज के विकास के विरूद्ध है। स्पेन्सर द्वारा वस्तुनिष्ठता पर जोर दिया गया। स्पेन्सर समाज का अस्तित्व व्यक्ति के लिये मानता है और वही समाज बेहतर है जिसमें व्यक्ति बेहतर है। स्पेन्सर की दृष्टि में एक अच्छा समाज वह है जिसमें सभी व्यक्ति अपने-अपने हितों के लिये एक-दूसरे से समझौता करते हैं। स्पेन्सर ने संस्था शब्द का प्रयोग 1862 में 'First Principles' में किया। संस्थाओं के योग से ही सामाजिक संरचना बनती है। स्पेन्सर के अनुसार समाज की स्पष्ट संस्थाएं है घरेलू संस्था (परिवार, विवाह, नातेदारी) धर्म राजनैतिक, चर्च व्यावसायिक और औद्योगिक संस्था।

### 1.2.6 ऑगस्ट कॉम्टे:-

ऑगस्ट कॉम्टे प्रत्यक्षवादी दर्शन और समाजशास्त्र के पितामह के रूप में जाने जाते हैं। ऑगस्ट कॉम्टे का जन्म 1798 में फ्रांस देश में हुआ। ऑगस्ट कॉम्टे का मानना था कि जैसे भौतिक संसार का अध्ययन विज्ञान के द्वारा किया जाता है। ठीक उसी तरह समाज का अध्ययन भी विज्ञान की दृष्टि से किया जाना चाहिए। कॉम्टे द्वारा मानव प्रगति का नियम दिया गया। इसे कॉम्टे ने तीन चरणों में बाँटा है-

1- धर्मशास्त्रीय/काल्पनिक

2- तत्वमीमांसीय/अमूर्त

3- प्रत्यक्षात्मक/वैज्ञानिक

पहले चरण में धर्म और कर्मकाण्ड का प्रमुख स्थान रहा है। दूसरे चरण में सत्ता चर्च-अधिकारियों के पास चली गई और तीसरे चरण में विज्ञान का उदय हुआ। कॉम्टे द्वारा दिया गया मानव प्रगति का नियम समाज के उद्विकासवादी दृष्टिकोण को सामने रखता है। एलबर्ट

डब्ल्यू स्टीवर्ट के अनुसार ''इस महान युग के व्यवस्था और प्रगति के क्रमिक विकास के परिणाम स्वरूप हम पौराणिक और दार्शनिक चिंतन से वैज्ञानिक चिंतन की ओर आएं।''[37] मानव प्रगति के नियम के पश्चात् कॉम्टे ने एक और प्रभावशाली धारणा समाजशास्त्र के विषय-वस्तु के विभाजन के लिये दी जिसे उन्होंने स्थिरता और गतिशीलता के रूप में सम्बोधित किया। कॉम्टे ने प्रत्यक्षवादी पद्धति को समाजशास्त्र के लिये महत्वपूर्ण माना है। कॉम्टे का प्रत्यक्षवादी समाज मानवता, सहयोग व मानवीय भावनाओं के वर्चस्व को मानता है। कॉम्टे ने परिवार को समाज की मूलभूत इकाई माना। उनके अनुसार परिवार सामाजिक जीवन का आधार है और परिवार व्यक्ति को व्यक्तिगत स्वार्थों से दूर रखता है। कॉम्टे ने भाषा को विरासत की संरक्षिका स्वीकार किया क्योंकि भाषा से पीढ़ी दर पीढ़ी ज्ञान व विचार आगे बढ़ते जाते हैं। कॉम्टे के अनुसार धर्म मनुष्य को पशु बनने से रोकता है। कॉम्टे ने शरीर की तरह ही समाज को भी सावयवी माना जैसे शरीर के अंग पृथक होकर भी मिलकर कार्य करते हैं ठीक वैसे ही समाज के अंग परिवार, जाति, वर्ग आदि समाज को जीवित रखते हैं।

इस प्रकार कॉम्टे, स्पेन्सर, मार्क्स, दुर्खिम और परेटो समाजशास्त्र के प्रमुख स्तम्भ हैं। उनका योगदान इस नये विषय को स्थापित करने में न सिर्फ महत्वपूर्ण रहा बल्कि उसे विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाने में भी सर्वश्रेष्ठ है। कॉम्टे द्वारा दिया गया प्रत्यक्षवादी प्रगति का नियम अवलोकन, प्रयोग व तुलना द्वारा सिद्धांत तक पहुँचता है। कॉम्टे ने राज्य से अलग एक नागरिक समाज की बात की। कॉम्टे व्यक्तिवाद विरोधी हैं वहीं स्पेन्सर व्यक्तिवाद समर्थक हैं और उनके द्वारा समाज के अंग के रूप में परिवार विवाह, धर्म, राजनैतिक, चर्च इत्यादि संस्थाओं का जिक्र किया गया। कार्ल मार्क्स का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत वर्ग सिद्धंत है। जिसमें उन्होंने वर्ग की धारणा को केन्द्रीय स्थान दिया है। दुर्खिम ने समूह और संरचना को व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण माना है। उधर विल्फ्रेडो परेटो ने मानव के समूह से ही समाज की संरचना स्वीकार की है। सभी

समाजशास्त्रियों के विचारों में व्यक्ति, परिवार, समाज संस्थाओं को विशेष स्थान मिला है। इस प्रकार समाजशास्त्र और समाजशास्त्री समाज में रहने वाले व्यक्ति के दूसरे व्यक्तियों से सम्बन्धों और समाज की संरचना पर अपनी दृष्टि बनाए रखते हैं।

**1.2.7 समाज : प्रमुख भारतीय विचारक:-**

भारतीय समाजशास्त्र के अग्रणी लोगों को इन प्रश्नों के उत्तर ही नहीं ढूँढने थे बल्कि उनहें अपने लिए नये प्रश्नों को भी तलाशना था। भारतीय संदर्भ में यह सिर्फ, 'करने' के अनुभव से ही संभव था जिससे समाजशास्त्रीय प्रश्नों को एक आकार मिला; यह पूर्व निर्मित रूप में उपलब्ध नहीं थे जैसा कि देखा जा सकता है। भारतीय समाजशास्त्री तथा मानव विज्ञानी, अधिकतर अचानक ही बन गए। उदाहरण के स्वरूप भारत के बेहतरीन तथा सर्वप्रथम सामाजिक मानव विज्ञानी श्री एल0 के0 अनन्तकृष्ण अय्यर (1861-1937) ने अपने व्यवसाय की शुरूआत एक क्लर्क के रूप में की। जिस प्रकार ब्रिटिश सरकार इसी प्रकार का सर्वेक्षण रजवाड़ों तथा इलाकों में करवाना चाहती थी जो प्रत्यक्ष रूप से उनके नियंत्रण में आते थे। उसी रूप में अनन्तकृष्ण अय्यर ने इस कार्य को पूर्व रूपेण एक स्वयंसेवी के रूप में किया।

**कानून विद् शरत चंद्रराय (1871-1942):-**

एक अन्य मानव विज्ञानी हैं जो भारत में इस वर्ग के अग्रणी थे तथा अकस्मात् मानवविज्ञानी बने। ये छोटा नागपुर प्रदेश (आज का झारखण्ड) में रहने वाली जनजातियों की संस्कृति तथा समाज के विशेषज्ञ बने। उन्होंने जनजातीय क्षेत्रों का व्यापक भ्रमण किया और उनके बीच रहकर गहन क्षेत्रीय अध्ययन किया। भारतीय समाजशास्त्र जैसी औपचारिक संस्था की स्थापना की गई। जी0 एस0 घूर्ये तथा डी0 पी0 मुकर्जी का जन्म 1890 के दशक में हुआ जबकि ए0 आर0 देसाई तथा एम0 एस0 श्रीनिवास का जन्म इनसे लगभग पंद्रह वर्ष बाद अर्थात्

बीसवीं सदी के दूसरे दशक में हुआ। हालाँकि ये सब बहुत गहराई से समाजशास्त्र की पाश्चात्य परंपरा से प्रभावित थे। ये उन प्रश्नों का उत्तर देने में भी सक्षम थे जो कि कुछ अग्रणी विद्वानों द्वारा पूछे जा सकते थे कि विशिष्ट भारतीय समाजशास्त्र किस प्रकार का आकार लेगा।

जी0 एस0 घूर्ये को भारत में समाजशास्त्र को एक संस्थागत रूप में स्थापित करने का श्रेय दिया जाता है। बंबई विश्वविद्यालय में इन्होंने सर्वप्रथम स्नातकोत्तर स्तर पर समाजशास्त्र विभाग में शिक्षा कार्य की अध्यक्षता की और पैंतीस वर्षों तक इस विभाग में कार्य किया। इनकी पहचान जाति और प्रजाति पर उनके द्वारा किये गये बेहतरीन कार्यों से होती है। लेकिन इसके अतिरिक्त इन्होंने बृहत विषयों- जैसे जनजाति, नातेदारी, परिवार और विवाह, संस्कृति, सभ्यता और नगरों की ऐतिहासिक भूमिका, धर्म तथा संघर्ष और एकीकरण का समाजशास्त्र, बौद्धिक तथा संदर्भगत सरोकारों जिन्होंने घूर्ये को प्रभावित किया उनमें सबसे प्रमुख हैं- प्रसारवाद, हिन्दू धर्म तथा सिद्धांत पर प्राच्य छात्रवृत्ति, राष्ट्रवाद तथा हिन्दू अभियन्ता के सांस्कृतिक पक्ष एक प्रमुख विषय जिस पर घूर्ये ने कार्य किया वह था 'जनजाति' अथवा 'आदिवासी' संस्कृति। वास्तव में इस विषय पर इनका लेखन, और मुख्य रूप से वेरियर एलविन के साथ हुये वाद-विवाद ने इन्हें समाजशास्त्र तथा शिक्षा की दुनिया से बाहर एक पहचान दी। कई ब्रिटिश प्रशासक-मानव विज्ञानी भारतीय जनजातियों में रूचि रखते थे और उनका मानना था कि ये आदिम लोग थे जिनकी अपनी विशिष्ट संस्कृति थी। जो हिन्दू मुख्यधारा से काफी अलग थी। उनका मानना था कि सीधे-सादे जनजातीय लोग हिन्दू समाज तथा संस्कृति से न केवल शोषित होंगे बल्कि सांस्कृतिक रूप से भी उनका पतन होगा।

इस कारण को ध्यान में रखते हुये उन्हें लगा कि यह राज्य का कर्तव्य है कि वे जनजातियों को संरक्षण दे ताकि वे अपनी जीवन-पद्धति तथा संस्कृति को बनाये रख सकें क्योंकि उन पर लगातार यह दबाव बन रहा था कि वे हिन्दू संस्कृति की मुख्यधारा में अपना

समायोजन करे अर्थात् अपने आपको मुख्यधारा में मिला ले। घूर्ये ने जाति और प्रजाति पर भी विचार किया है। इस पर एक विस्तृत परिभाषा दिये जाने के कारण भी जाने जाते हैं। उनकी परिभाषा छ: महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डालती है जो संक्षेप में इस प्रकार हैं-

1- जाति एक ऐसी संस्था है जो खंडीय विभाजन पर आधारित है अर्थात् जातीय समाज कई बंद, पारस्परिक अनन्य खण्डों में बँटा है।
2- जातिगत समाज सोपानिक विभाजन पर आधारित है।
3- संस्था के रूप में जाति सामाजिक अंत: क्रिया पर प्रतिबन्ध लगाती है विशेषकर साथ बैठकर भोजन करने पर।
4- सोपानिक तथा प्रतिबन्धित सामाजिक अंत: क्रिया के सिद्धान्तों को मानते हुये जाति में विभिन्न जातियों के लिये भिन्न-भिन्न अधिकार तथा कर्तव्य निर्धारित होते हैं।
5- जाति व्यवस्था के चुनाव को भी सीमित कर देती है जो जाति की तरह, जन्म पर आधारित तथा वंशानुगत होता है।
6- जाति, विवाह पर कठोर प्रतिबंध लगाती है। जाति में अंत: विवाह (जाति में ही विवाह) के साथ ही 'बहिर्विवाह' के नियम भी जुड़े रहते हैं अथवा किसकी शादी किससे नहीं हो सकती है।

**ध्रुजटि प्रसाद मुकर्जी (डी.पी. मुकर्जी):-**

ये समाजशास्त्र से पहले इतिहास तथा अर्थशास्त्र का अध्ययन करते थे और इन विषयों में उनकी अभिरूचि थी, जिसका विस्तार क्षेत्र, साहित्य, संगीत, फिल्म, पाश्चात्य तथा भारतीय दर्शन, मार्क्सवाद, राजनीतिक अर्थव्यवस्था, तथा विकास की योजना थी। मार्क्सवाद से वे बहुत प्रभावित थे। परंपरा एवं परिवर्तन पर डी.पी. मुकर्जी के विचार भारतीय इतिहास तथा

अर्थव्यवस्था के प्रति अपने असंतोष के कारण समाजशास्त्र की ओर मुड़े। उनका यह मानना था कि भारत की सामाजिक व्यवस्था ही उसका निर्णायक एवं विशिष्ट लक्षण है तथा इसलिये, यह प्रत्येक सामाजिक विज्ञान के लिये आवश्यक है कि वह इस संदर्भ में इससे जुड़ा हो। भारतीय संदर्भ में निर्णायक पक्ष उसका सामाजिक पक्ष है- इतिहास, राजनीति तथा अर्थव्यवस्था पश्चिम के मुकाबले भारत में कम विकसित थे। उसका सामाजिक आयाम अधिकाधिक विकसित था। मुकर्जी लिखते हैं कि मेरा यह मानना है कि ''भारत में सामाजिकता का बाहुल्य है। इसके अलावा और सब कुछ बहुत कम है। वास्तव में सामाजिकता की अधिकता भारत की विशेषता ही है। भारत का इतिहास, इसका अर्थशास्त्र, यहाँ तक कि इसका दर्शन सामाजिक समूहों के इर्द-गिर्द घूमता है। ज्यादा से ज्यादा यह भी कह सकते हैं कि यह समाजीकृत व्यक्तियों के इर्द-गिर्द है। ऐसा मैं महसूस करता हूँ।''[38] डी. पी. मुकर्जी के परम्परा तथा परिवर्तन संबंधी विचारों ने पाश्चात्य देशों से बिना सोचे-समझे बौद्धिक परम्पराओं को ग्रहण करने के कारण विकास योजनाओं जैसे संदर्भों की भी आलोचना की। परम्परा को न तो पूजना चाहिए और न ही इसको अनदेखा करना चाहिए। ठीक उसी प्रकार जैसे आधुनिकता आवश्यक तो है लेकिन अंधानुकरण के लिये नहीं। डी.पी. मुकर्जी परम्परा के समीक्षक थे जो उन्हें विरासत में मिली थी और साथ ही वे आधुनिकता के प्रशंसक आलोचक भी थे जिसके कारण उनके स्वयं के बौद्धिक परिप्रेक्ष्य को आकार प्राप्त हुआ।

अक्षय रमन लाल देसाई का आधुनिक पूँजीवादी राज्य एक महत्वपूर्ण विषय था। जिसमें ए.आर. देसाई की रूचि थी। इन्होंने समाजशास्त्र साहित्य की प्रमुख परिभाषाओं को ध्यान में रखा। देसाई ने कल्याणकारी राज्य की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया हैं जो निम्न हैं-

1- कल्याणकारी राज्य एक सकारात्मक राज्य होता है। इसका अर्थ है कि वह उदारवादी राजनीति के शास्त्रीय सिद्धांत की लेसेज फेयर (Lassiez Faire) नीति से भिन्न होता है।

2- कल्याणकारी राज्य लोकतांत्रिक राज्य होता है। कल्याणकारी राज्य के जन्म के लिये लोकतंत्र की एक अनिवार्य दशा होती है।

3- कल्याणकारी राज्य की अर्थव्यवस्था मिश्रित होती है।

मैसूर नरसिंहाचार श्रीनिवास स्वतंत्र भारत के बेहतरीन भारतीय समाजशास्त्री हैं। इनके 'गाँव सम्बन्धी विचार' की रूचि भारतीय गाँव तथा ग्रामीण समाज में जीवनभर बनी रही। यद्यपि वे गाँवों में कई बार सर्वेक्षणों तथा साक्षात्कार के लिये जा चुके थे परन्तु एक वर्ष तक मैसूर के निकट के एक गाँव में कार्य करने के पश्चात् ही इन्हें ग्रामीण समाज के बारे में प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त हुई। गाँव में रहकर कार्य करने का अनुभव इनके व्यवसाय तथा बौद्धिक विकास के लिए महत्वपूर्ण साबित हुआ। 1950-60 के दौरान श्री निवास ने ग्रामीण समाज से संबंधित विस्तृत नृजातीय ब्यौरों के लेखे-जोखों को तैयार करने में सामूहिक परिश्रम को न केवल प्रोत्साहित किया बल्कि उसका समन्वय भी किया। श्रीनिवास ने एस0सी0 दुबे तथा डी0एन0 मजूमदार जैसे विद्वानों के साथ मिलकर भारतीय समाजशास्त्र में उस समय के ग्रामीण अध्ययन को प्रभावशाली बनाया।

गाँव ग्रामीण शोधकार्यों के स्थल के रूप में भारतीय समाजशास्त्र को कई तरह से लाभान्वित करते हैं। इसने नृजातीय शोधकार्य की पद्धति के महत्व से परिचित कराने का एक मौका दिया। नव-स्वतंत्र राष्ट्र जब विकास की योजनायें बना रहा था ऐसे समय में इसने भारतीय गाँवों में तीव्र गति से होने वाले सामाजिक परिवर्तन के बारे में आँखों देखी जानकारी दी। ग्रामीण भारत से संबंधित इन प्रविधि जानकारियों की उस समय काफी प्रशंसा हुई क्योंकि नगरीय

भारतीय तथा नीति निर्माता इससे अनुमान लगा सकते थे कि भारत के आंतरिक हिस्सों में क्या हो रहा था। इस प्रकार ग्रामीण अध्ययन ने समाजशास्त्र जैसे विषय को स्वतंत्र राज्य के परिप्रेक्ष्य में एक नयी भूमिका दी। मात्र आदिम मानव के अध्ययन तक सीमित न रहकर इसे आधुनिकता की ओर बढ़ते समाज के लिये भी उपयोगी बनाया जा सकता है।

इस प्रकार इन समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र जैसे विषय को नव स्वतंत्र आधुनिक राष्ट्र के संदर्भ में एक अलग पहचान देने की कोशिश की। किन विभिन्न तरीकों से समाजशास्त्र को 'भारतीय' बनाया गया इसके उदाहरण यहाँ दिये गये हैं। अत: घूर्ये ने उन प्रश्नों से शुरूआत की जो पाश्चात्य मानवशास्त्रियों द्वारा उठाये गये थे लेकिन यहाँ उन्होंने शास्त्रीय पुस्तकों से अर्जित अपने ज्ञान तथा एक शिक्षित भारतीय सोच का उपयोग किया। एक भिन्न पृष्ठभूमि से आने वाले, पूर्वरूपेण पाश्चात्य डी.पी. मुकर्जी जैसे आधुनिक बुद्धिजीवी ने भारतीय परंपरा की महत्ता को पुन: खोजा। बिना किसी कमियों को नज़रअंदाज करते हुये मुकर्जी की ही तरह ए.आर. देसाई भी मार्क्सवाद से अत्यधिक प्रभावित थे और भारतीय राष्ट्र की समालोचना ऐसे समय में की जब इस प्रकार की आलोचनाएँ दुर्लभ थीं। पाश्चात्य सामाजिक मानवशास्त्र के प्रभावी केन्द्रों में रहकर प्रशिक्षा प्राप्त एम. एन श्रीनिवास ने भारतीय संदर्भ में इसका प्रयोग किया और बींसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समाजशास्त्र की नवीन कार्य सूची को तैयार करने में मदद की। यह किसी भी विभाग की शक्ति के लिये शुभ लक्षण है। भारतीय समाजशास्त्र में ऐसा होता रहा है। आने वाली पीढ़ियों ने इन अग्रदूतों के कार्यों की सकारात्मक आलोचना भी की ताकि यह विषय और अधिक विकसित हो सके। सीखने की इस प्रक्रिया के चिन्ह तथा समालोचक केवल इस विषय में नहीं बल्कि संपूर्ण भारतीय समाजशास्त्र में देखे जा सकते है।

## 1.3 समाजशास्त्रीय अध्ययन : परिभाषा एवं क्षेत्र :-

साहित्य के समाजशास्त्र के अनुरूप समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। यह एक ऐसा विषय है, जिसमें मानव समाज के विभिन्न स्वरूप, संरचना व प्रक्रियाओं का क्रमबद्ध तरीके से अध्ययन किया जाता है। ऑगस्ट कॉम्टे प्रथम विचारक हैं, जिन्होंने एक व्यवस्थित विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र विषय का निर्माण उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में किया। उनको मानवीय तथा सामाजिक एकता पर बल देने वाला प्रथम समाजशास्त्री माना जाता है। उनका विचार था कि कोई भी ऐसा नहीं है जिसने कि समाज के विभिन्न पहलुओं का समग्र रूप में अध्ययन किया हो। इस कमी को दूर करने के लिये उन्होंने इस नवीन विषय का निर्माण किया। इसीलिये कॉम्टे को समाजशास्त्र विषय का जनक या जन्मदाता माना जाता है।

समाज विज्ञान एक समाजशास्त्र का विषय होने से सामाजिक अध्ययन में सहायता मिलती है। वे समाजशास्त्र विषय का जनक मात्र इसीलिये नहीं हैं कि उन्होंने इस नवीन विषय को प्रथमत: नाम प्रदान किया बल्कि इसलिये कि उन्होंने इस विज्ञान को 'विज्ञानों का संस्तरण' में तार्किक व उचित स्थान दिलाने में तथा सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग की संभावना को जोरदार शब्दों में व्यक्त करने में भी सफलता प्राप्त की।

### 1.3.1 समाजशास्त्र अर्थ एवं परिभाषा-

समाजशास्त्र शब्द की उत्पत्ति दो शब्दों से मिलकर हुआ है। जिसमें पहला शब्द सोसियस (Socius) लैटिन भाषा से और दूसरा शब्द लोगस (Logus) ग्रीक भाषा से लिया गया है। इस प्रकार समाजशास्त्र का शाब्दिक अर्थ समाज का शास्त्र या समाज का विज्ञान है। डॉन मार्टिनल ने बताया है कि यदि मानव प्रकृति से दार्शनिक है तो स्वभावत: वह समाजशास्त्री भी है, क्योंकि सामाजिक जीवन उसका स्वभाविक उद्देश्य है। समाजशास्त्र को एक नवीन विज्ञान

के रूप में स्थापित करने का श्रेय फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान ऑगस्ट कॉम्टे को है। आपने ही 1838 में इस नवीन शास्त्र को समाजशास्त्र (Sociology) नाम दिया।

अत: कॉम्टे को समाजशास्त्र के जनक के रूप में भी जाना जाता है। कालांतर में दुर्खीम, स्पेंसर, मैक्स वेबर एवं अन्य विद्वानों ने समाजशास्त्र को एक अकादमिक विज्ञान के रूप में विकसित करने के लिये अपने महत्वपूर्ण योगदान दिये। समाजशास्त्र की उत्पत्ति के मूल स्रोतों पर प्रकाश डालते हुये गिंसबर्ग ने लिखा है कि यह स्पष्ट रूप से माना जा सकता है कि समाजशास्त्र की उत्पत्ति राजनीति दर्शन, इतिहास, विकास के जैविकीय सिद्धांत एवं उन सभी सामाजिक और राजनीतिक सुधार आंदोलनों पर आधारित है जिन्होंने सामाजिक दिशाओं का सर्वेक्षण करना आवश्यक समझा। इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक घटनाओं का अध्ययन व मानवीय संबंधों की जटिलता के अध्ययन का विश्लेषण दोनों को यथार्थता की कसौटी पर कसने के लिये समाजशास्त्र का आविर्भाव एक समाज-विज्ञान के रूप में 19वीं शताब्दी में हुआ। विभिन्न विद्वानों ने समाजशास्त्र को एक समाज वैज्ञानिक विषय व सामाजिक विषय के रूप में अपने-अपने तरीकों से परिभाषित करने का प्रयास किया है। विषय को अनुकूल रूप से समझने के लिए कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं-

(क) वार्ड के अनुसार - ''समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।''

**(ख)** गिडिंग्स ने लिखा है- ''समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है।''

**(ग)** मैक्स वेबर के अनुसार- ''समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो कि सामाजिक क्रिया के व्याख्यात्मक बोध को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है, जिससे उसकी क्रिया व प्रभावों की बुद्धिसंगत व्याख्या की जा सके।''

**(घ)** गिंसबर्ग के अनुसार- ''समाजशास्त्र मानवीय अंतर्क्रियाओं और अंतर सम्बन्धों, उनकी दशाओं और परिणामों का अध्ययन है।''

(ड़) एल. टी. हाबहाउस के अनुसार- ''समाजशास्त्र की विषय-वस्तु मानवीय मस्तिष्क की अंत:क्रिया है।''

(च) दुर्खीम - ''समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधानों का विज्ञान है।''

(छ) मैकाइवर एवं पेज- ''समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के विषय में हैं, सम्बन्धों के इसी जाल को हम समाज कहते है।''

(ज) क्यूबर - ''समाजशास्त्र मानवीय सम्बन्धों के बारे में वैज्ञानिक ज्ञानपुंज है।''

परिभाषाओं की विभिन्नता को देखते हुए आलेक्स इंकल्स ने अपनी पुस्तक **'What is Sociology'** में समाजशास्त्र की परिभाषाओं को तीन भागों में विभाजित किया हैं-

1- समाजशास्त्र समाज के अध्ययन के रूप् में इस श्रेणी में छम वार्ड, गिडिंग्स, समनर आदि समाजशास्त्रियों की परिभाषाओं को रख सकते है।
2- समाजशास्त्र संस्थाओं के अध्ययन के रूप में - दुर्खीम।
3- समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन के रूप में इस श्रेणी में मैकाइवर व पेज, क्यूबर आदि का नाम उल्लेखनीय है।

इस प्रकार समाजशास्त्र जो मात्र 150-160 वर्ष पुराना है। जिसका उदय सामाजिक परिस्थितियों के द्वारा हुआ, को परिभाषित करने का श्रेय उपरोक्त विद्वानों को जाता है।

### 1.3.2 समाज का अध्ययन-

समाजशास्त्र समाज एवं समाज में रहने वाले मनुष्यों का अध्ययन करता है। अधिकांश विद्वान जैसे ओडम, वार्ड, गिंसबर्ग, गिडिंग्स आदि समाजशास्त्र को समाज के अध्ययन या

समाज के विज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं। यही दृष्टिकोण अधिकांश प्रारंभिक समाजशास्त्रियों का भी रहा है जिन्होंने समाज का समग्र रूप में अर्थात् इसे एक सम्पूर्ण इकाई मानकर अध्ययन करने पर बल दिया है। ओडम के अनुसार समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है।'' समाज के अध्ययन के रूप में दी गई समाजशास्त्र की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि केवल समाजशास्त्र का शाब्दिक अर्थ ही समाज का अध्ययन या 'समाज का विज्ञान' नहीं है बल्कि ओडम, वार्ड, गिंसबर्ग तथा गिडिंग्स आदि विद्वानों ने इसकी परिभाषा देते समय भी समाज को इस विषय का मुख्य अध्ययन बिन्दु बताया है।

समाज का अर्थ सामाजिक संबंधों की एक व्यवस्था, जाल तथा ताने-बाने से है। इससे किसी समूह के सदस्यों के बीच पाये जाने वाले पारस्परिक अंतर्सम्बन्धों की जटिलता का बोध होता है। अन्य शब्दों में जब सामाजिक सम्बंधों की एक व्यवस्था पनपती है तभी हम उसे समाज कहते हैं। विज्ञान क्रमबद्ध ज्ञान या किसी तथ्य अथवा घटना से संबंधित वस्तुनिष्ठ रूप से जानकारी प्राप्त करने का एक तरीका है। इसमें अवलोकन, परीक्षा, प्रयोग, वर्गीकरण तथा विश्लेषण द्वारा वास्तविकता को समझने का प्रयास किया जाता है। यह प्रघटना के पीछे छिपे तथ्य अथवा वास्तविकता को प्राप्त करने का एक मार्ग है। इस प्रकार, जब हम समाजशास्त्र को समाज का विज्ञान कहते हैं तो हमारा तात्पर्य ऐसे विषय से है जो समाज तथा इसके विभिन्न पहलुओं का क्रमबद्ध अध्ययन करता है।

### 1.3.3 सामाजिक संबंधों का अध्ययन-

इसमें विद्वानों जैसे मैकाइवर एवं पेज, क्यूबर, रोज, सिमेल, ग्रीन आदि ने समाजशास्त्र को सामाजिक संबंधों के क्रमबद्ध अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है। सामाजिक संबंधों से

हमारा अभिप्राय है जो एक-दूसरे के लिये कुछ न कुछ कार्य कर रहे हैं। यह जरूरी नहीं है कि सम्बन्ध मधुर तथा सहयोगात्मक ही हो, ये संघर्षात्मक या तनावपूर्ण भी हो सकते हैं। समाजशास्त्री इन दोनों तरह से संबंधों का अध्ययन करते हैं। सामाजिक सम्बन्ध उसी परिस्थिति में पाये जाते हैं जिसमें दो या अधिक समूह परस्पर अंतर्क्रिया में भाग लें। सामाजिक संबंध तीन प्रकार के हो सकते हैं- प्रथम, व्यक्ति तथा व्यक्ति के बीच, द्वितीय व्यक्ति तथा समूह के बीच तथा तृतीय एक समूह और दूसरे समूह के बीच। पति, पत्नी, भाई, बहन, पिता, पुत्र के संबंध पहली श्रेणी के उदाहरण हैं। छात्रों का अध्यापक के साथ सम्बन्ध दूसरी श्रेणी का उदाहरण है। एक टीम का दूसरी टीम अथवा एक राजनीतिक दल का दूसरे राजनीतिक दल से संबंध तीसरी श्रेणी का उदाहरण है।

मैकाइवर व पेज के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों के विषय में हैं सम्बन्धों के इस जाल को हम समाज कहते हैं। क्यूबर के अनुसार ‘‘समाजशास्त्र को मानव संबंधों के वैज्ञानिक ज्ञान के ढांचे के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। रोज के अनुसार ‘‘समाजशास्त्र मानव सम्बन्धों का विज्ञान है। इसी भांति ग्रीन के अनुसार इस प्रकार समाजशास्त्र मनुष्य का उसके समस्त सामाजिक संबंधों के रूप में समन्वय करने वाला और सामान्य अनुमान निकालने वाला विज्ञान है। सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन के रूप में समाजशास्त्र को परिभाषित करने वाली उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट पता चल जाता है कि समाजशास्त्र की मुख्य विषयवस्तु व्यक्तियों में पाये जाने वाले सामाजिक संबंध है।

### 1.3.4 सामाजिक जीवन, घटनाओं, व्यवहार और कार्यों का अध्ययन-

समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को सामाजिक जीवन, व्यक्तियों का व्यवहार और उनके कार्यों एवं सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है। ऑगर्वर्न एवं

निमकॉफ के अनुसार ''समाजशास्त्र सामाजिक जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन है।'' बेनेट एवं टूयूमिन के अनुसार ''समाजशास्त्र सामाजिक जीवन के ढांचे और कार्यों का विज्ञान है।'' युंग के अनुसार ''समाजशास्त्र समूहों में मनुष्यों के व्यवहार का अध्ययन करता है।'' इसी भांति सोरोकिन के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक, सांस्कृतिक घटनाओं के सामान्य स्वरूपों, प्रारूपों और विभिन्न प्रकार के अंतर्सम्बन्धों का सामान्य विज्ञान है।

उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है कि समाज का विज्ञान होने के नाते समाजशास्त्र समाज के अन्य विज्ञानों तथा राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र आदि से भिन्न है। इसमें हम सामाजिक जीवन का ही अध्ययन करते हैं। इसके साथ ही साथ सामाजिक व्यवहार एवं सामाजिक कार्यों का अध्ययन भी इस विषय को अन्य सामाजिक विज्ञानों से पृथक करता है। सामाजिक व्यवहार का अर्थ ऐसा व्यवहार है जो अन्य व्यक्तियों के व्यवहार या उनकी प्रत्याशित अनुक्रिया को ध्यान में रखकर किया जाता है।

### 1.3.5 सामाजिक समूहों का अध्ययन-

समाज में व्यक्ति अकेला नहीं रहता है बल्कि अन्य व्यक्तियों के साथ रहता है। वास्तव में व्यक्ति का जीवन विभिन्न सामाजिक समूहों का सदस्य होने के कारण ही संगठित जीवन है। हेरी एम जॉनसन के अनुसार ''समाजशास्त्र सामाजिक समूहों उनके आतंरिक स्वरूपों या संगठन के स्वरूपों उन प्रक्रियाओं जो उस संगठन में बनाये रखती है या परिवर्तित करती है और समूहों के बीच पाये जाने वाले संबंधों का अध्ययन करने वाला विज्ञान हैं।'' जॉनसन की परिभाषा से हमें पता चलता है कि समाजशास्त्र सामाजिक समूहों और इनमें पाये जाने वाले संगठनों तथा इनसे संबंधित प्रक्रियाओं का अध्ययन है। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी लक्ष्य या

उद्देश्य को पाने के लिए एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं या अंतर्क्रिया करते हैं तथा इसके परिणामस्वरूप उनके मध्य सामाजिक संबंध स्थापित होते हैं।

अर्थात् उन व्यक्तियों के संग्रह को समूह कहा जा सकता है। इस प्रकार समूह के तीन तत्व हो सकते हैं- प्रथम, दो या दो से अधिक व्यक्तियों का संग्रह, द्वितीय उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्धों का होना तथा तृतीय, उनकी क्रियाओं का आधार सामान्य हित या उद्देश्य का होना। सभी समूह सामाजिक सम्बन्धों के संकाय होते हैं। इस अर्थ में किसी भी समूह में उनके सदस्यों के बीच कुछ लक्ष्यों की प्राप्तियों के लिये आंशिक सहकार निहित करता है। समूह के सहकारिता पक्ष का यह अर्थ नहीं है कि इसके सदस्यों के बीच वैमनस्य हो ही नहीं सकता। एक समूह में प्रतिद्वंद्विता और स्थायी घृणा का बाजार गर्म हो सकता है। जैसे कि कुछ परिवार होते हैं लेकिन वह फिर भी समूह बना रहता है। उसके सदस्यों को भी यदा-कदा अपनी अंतर्क्रियाओं में कतिपय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये सहकार करते रहते हैं। समाजशास्त्र व्यक्ति के परस्पर संबंधों की अपेक्षा समूह-समूह के परस्पर संबंधों तथा एक जाति को दूसरी जातियों से सम्बन्ध तथा एक वर्ग से दूसरे वर्गों से सम्बन्ध को अधिक महत्व देता है।

### 1.3.6 समाजशास्त्रीय क्षेत्र का अध्ययन-

समाजशास्त्र में विषय क्षेत्र और विषय वस्तु को एक समझ लेते है जबकि दोनों में पर्याप्त अन्तर होता है। विषय क्षेत्र का तात्पर्य वे सम्भावित सीमाएँ है जहाँ तक किसी विषय का अध्ययन सम्भव होता है जबकि विषय-वस्तु वे निश्चित सीमाएं होती हैं जिनके अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान व्यक्तियों के सामाजिक जीवन को तथा विभिन्न घटनाओं का अपने-अपने दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्र

आर्थिक दृष्टिकोण से राजनीतिशास्त्र राजनीतिक दृष्टिकोण से, मनोविज्ञान मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से तथा समाजशास्त्र सामाजिक दृष्टिकोण से घटनाओं का अध्ययन करते हैं।

विभिन्न दृष्टिकोण होने के बावजूद किसी भी सामाजिक विज्ञान का विषय क्षेत्र निर्धारित करना एक कठिन कार्य है। एक आधुनिक विज्ञान होने के नाते समाजशास्त्र में यह कठिनाई अन्य विज्ञानों की अपेक्षा कहीं अधिक है। कालबर्टन के अनुसार समाजशास्त्र क्योंकि लचीला विज्ञान है अत: यह निश्चित करना पूर्ण रूप से कठिन कार्य है कि इसकी सीमा कहाँ से प्रारम्भ होती है, कहाँ समाजशास्त्र मनोविज्ञान तथा कहाँ मनोविज्ञान समाजशास्त्र बन जाता है अथवा जैविक सिद्धांत समाजशास्त्रीय सिद्धांत बन जाता है। समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र के बारे में प्रमुख विद्वान एकमत नहीं हैं। इसके विषय में निम्नलिखित दो प्रमुख परिप्रेक्ष्य दृष्टिकोण हैं जो इस प्रकार हैं-

### 1.3.6.1 विशिष्टवादी या स्वरूपात्मक सम्प्रदाय :-

समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र में इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रणेता तथा समर्थक जॉर्ज सिमेल, स्माल, वीरकान्त, मैक्सवेबर, वॉन वीज आदि विद्वान हैं। इन विद्वानों के दृष्टिकोण में समाजशास्त्र स्वतंत्र, विशिष्ट तथा शुद्ध विज्ञान है। इसका प्रमुख लक्ष्य मानवीय सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करना है। इस सम्प्रदाय के अनुसार समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में पृथक अस्तित्व रखता है। अन्य सामाजिक विज्ञान वही अध्ययन नहीं करते हैं जो समाजशास्त्र करता है। दूसरे सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन का लक्ष्य अन्तर्वस्तु को समझना है जबकि समाजशास्त्र स्वरूपों का अध्ययन करता है। इन विद्वानों ने रूपात्मक पक्ष को अत्यधिक महत्व दिया है। इसी कारण इस सम्प्रदाय का नाम स्वरूपात्मक सम्प्रदाय पड़ा है। स्वरूपात्मक सम्प्रदाय को स्पष्ट रूप से जानने के लिये इसके प्रमुख समर्थकों के विचार प्रस्तुत हैं-

1- **सिमेल** - जॉर्ज सिमेल के दृष्टिकोण में स्वरूपों तथा अन्तर्वस्तु का पृथक-पृथक् अस्तित्व है। इन्होंने सामाजिक सम्बन्धों को भी दो वर्गों में बाँटा है। (1) स्वरूप (2) अन्तर्वस्तु। सिमेल यह मानते हैं कि सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप होता है और इसी स्वरूप का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाना चाहिये। दूसरे सामाजिक विज्ञान अन्तर्वस्तु का अध्ययन करते हैं।

2- **स्माल-** स्माल यह मानते हैं कि समाजशस्त्र सामाजिक सम्बन्धों का विशिष्ट अध्ययन है। इनका मत जॉर्ज सिमेल के मत से मिलता जुलता है। उनका कहना है कि समाजशास्त्र का कार्य सामाजिक सम्बन्धों और व्यवहारों या क्रियाओं के मूल रूप का विशिष्ट अध्ययन करना मात्र है, न कि समाज में होने वाली प्रत्येक घटना अथवा क्रिया का।

3- **वीरकान्त-** वीरकान्त भी समाजशास्त्र को विशिष्ट विज्ञान मानते है। इनके अनुसार समाजशास्त्र को मानसिक सम्बन्धों के उन स्वरूपों का अध्ययन करना चाहिये जो एक-दूसरे को बाँधते हैं। वीरकान्त के अनुसार ये मानसिक सम्बन्ध प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, ममता, सम्मान आदि में व्यक्त होते हैं।

4- **वेबर**- मैक्स वेबर समाजशास्त्र के क्षेत्र को निश्चित व स्पष्ट करने के पक्ष में थे। इनके अनुसार समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक व्यवहार का विवेचन करना तथा समझना है। इसका अर्थ यह हुआ है कि सभी प्रकार के व्यवहार सामाजिक नहीं होते हैं। इसलिये आवश्यक है कि समाजशास्त्र सामाजिक क्रिया का अध्ययन करें। इस कारण समाजशास्त्र को सामाजिक क्रिया का अध्ययन करना चाहिये।

5- **वॉन वीज**- वॉन वीज समाजशास्त्र के क्षेत्र को अधिक संकुचित करते हुये कहते हैं कि इसका क्षेत्र केवल सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन तक ही सीमित रहना चाहिये।

### 1.3.6.2 समन्वयात्मक सम्प्रदाय-

समाजशास्त्र के इस सम्प्रदाय के प्रमुख विद्वान दुर्खीम, लेस्टरवार्ड, सोरोकिन, हॉब हाउस आदि हैं। इस सम्प्रदाय के अनुसार समाजशास्त्र विशिष्ट विज्ञान न होकर एक सामान्य विज्ञान है। समाज का प्रत्येक भाग परस्पर सम्बन्धित है। यदि उसके किसी एक भाग में परिवर्तन होता है तो उसका प्रभाव सारे समाज पर पड़ता है, इसलिए सारे समाज का अध्ययन करना आवश्यक है। इस अध्ययन को अन्य सामाजिक विज्ञान, जैसे अर्थशास्त्र (आर्थिक जीवन का अध्ययन) तथा (राजनीति शास्त्र राजनीतिक जीवन का अध्ययन) आदि अधिक समृद्ध बना सकते हैं। सामाजिक जीवन न केवल आर्थिक और राजनीतिक पक्ष पर ही आधारित है अपितु इन अन्तर्सम्बन्धों से सामाजिक जीवन में पूर्णता भी आती है। इसलिये समाजशास्त्र को इन अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन करके सम्पूर्ण जीवन का सामान्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

इन विद्वानों के मतानुसार समाजशास्त्र समाज के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक समस्त पक्षों का अध्ययन और विवेचन करने वाला विज्ञान है। इसी आधार पर इस सम्प्रदाय को समन्वयात्मक सम्प्रदाय कहा जाता है। समन्वयात्मक सम्प्रदाय को अधिक स्पष्ट जानने के लिये इसके समर्थकों अथवा विद्वानों के विचार इस प्रकार हैं।

1- **दुर्खीम**- इमाइल दुर्खीम ने समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुये कहा है कि ''समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्वों (प्रतिनिधानों) का विज्ञान है।'' प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे विचार, धारणाएँ और भावनाएँ होती हैं, जो इन प्रतीकों को समाज के अधिकांश सदस्य मानते हैं। इसलिये ये सामूहिक रूप से समस्त समूह के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। समाजशास्त्र को सामूहिक प्रतिनिधित्वों को अपने विषय क्षेत्र में सम्मिलित करना चाहिये।

2- **वार्ड-** लेस्टर वार्ड का विचार है कि जिस प्रकार रसायनशास्त्र में दो वस्तुओं को मिला देने से एक नई वस्तु का जन्म होता है और उसका अध्ययन रसायनशास्त्र करता है। उसी प्रकार समाजशास्त्र ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का समन्वय मात्र है। अत: समाजशास्त्र को विभिन्न सामाजिक विज्ञानों से प्राप्त केन्द्रीय विचारों का समन्वय एवं अध्ययन करना चाहिये।

3- **सोरोकिन-** पिटिरिम सोरोकिन ने समन्वयात्मक आधार पर समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र को समझाने का प्रयत्न किया है। समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र पर सोरोकिन ने विचार व्यक्त करते हुये कहा है कि ''यदि सामाजिक घटनाओं को वर्गों में विभाजित किया जाये और विशेष सामाजिक विज्ञान प्रत्येक वर्ग का अध्ययन करे तो इन विशेष सामाजिक विज्ञान के अलावा एक ऐसे विज्ञान की आवश्यकता होगी जो सामान्य एवं विभिन्न विज्ञानों के सम्बन्धों का अध्ययन करे'' इसलिये समाजशास्त्र को अपने विषय क्षेत्र के अन्तर्गत इन्हीं सामान्य घटनाओं का अध्ययन करना चाहिये।

4- **हॉबहाउस-** हॉबहाउस का दृष्टिकोण भी समन्वयात्मक है इनके अनुसार विभिन्न विज्ञानों का अध्ययन इस प्रकार से किया जाना अनिवार्य है जिसमें कि उनके सिद्धान्तों में समन्वय सम्भव हो पाये। समाजशास्त्र सामान्य जीवन का अध्ययन उसी समय कर सकता है जब समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों के आधारभूत विचारों का अध्ययन करे अथवा सामान्य केन्द्रीय धारणाओं को खोजने का प्रयत्न करे। इसलिये समाजशास्त्र अपने को विशेष प्रकार के सम्बन्धों तक सीमित नहीं रख सकता है। समन्वयात्मक सम्प्रदाय की आलोचना समन्वयात्मक सम्प्रदाय के विचारों के विरूद्ध मुख्य तर्क निम्न है-

1- समाजशास्त्र का कार्य यदि सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं व तथ्यों का अध्ययन करना हो जायेगा तो यह एक विशुद्ध शास्त्र न रहकर मिश्रित शास्त्र हो जायेगा।

2- ऐसी स्थिति में समाजशास्त्र अपना विशुद्ध और स्वतंत्र चरित्र खो देगा और वह अन्य विज्ञानों की तरह एक 'सामान्य विज्ञान' बनकर रह जायेगा।

3- सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं व तथ्यों के संग्रह और अध्ययन के कारण समाजशास्त्र किसी भी विषय का पूर्ण और अधिकृत ज्ञान प्रदान नहीं कर सकेगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र में सामाजिक जीवन के तत्वों से सम्बन्धित अनेक विशिष्ट विज्ञान है और इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्र समस्त सामाजिक विज्ञानों के समग्र रूप के समान है। वास्तव में समाजशास्त्र के क्षेत्र से सम्बन्धित दोनों दृष्टिकोण में समन्वय करने की आवश्यकता है। एक ओर हमें समाज के मूल एवं सामान्य तत्वों का ज्ञान होना अनिवार्य है जबकि दूसरी ओर सामाजिक जीवन के विशिष्ट पहलुओं की अवहेलना भी नहीं की जा सकती। अत: वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विषय क्षेत्र के बारे में झगड़ा व्यर्थ है क्योंकि अपनी अध्ययन पद्धति के अनुरूप समाजशास्त्र विशिष्ट एवं सामान्य दोनों ही है।

## 1.4 कथासाहित्य सम्बन्धी समाजशास्त्रीय आलोचना की प्रविधि-

वर्तमान सन्दर्भ में कथा साहित्य समाजशास्त्र का एक विषय बन गया है। वह उपन्यास, कहानी, नाटक आदि की विधा है। जिस प्रकार समाज के नियमों आदि का पालन एक सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल है, उसी प्रकार कथा साहित्य की परम्परा का मूल्यांकन विभिन्न समाजशास्त्र का अंग बन गया है। किसी भी विधा में रसमाज की रूढ़ियों में सकारात्मक एवं नकारात्मक भावों की प्रवृत्ति दिखाई जाती है। उसी से समाज की रूढ़ियों में बदलाव की संभावना पायी जाती है। इस प्रकार हम जिस साहित्यिक विधा को समाजशास्त्र के विचारों में

ढालते हैं, वहीं सामाजिक रीतियों की कल्पना की जाती है चाहे वह उपन्यास कहानी या नाटक आदि हो इसमें संस्कृत के भी रचनाएँ दिखाई पड़ती है।

कथा-साहित्य के संदर्भ में आज जिस साहित्यिक विधा को उपन्यास के नाम से अभिहित किया जाता है वह निश्चित ही आधुनिक है जिसमें कथा साहित्य की समाजशास्त्रीय आलोचना का संदर्भ दिखाई पड़ता है। कुछ पूर्वाग्रही प्रकृति के लोग इसका सम्बन्ध भी सुदूर अतीत से जोड़ने का प्रयास करते रहते है। उसमें रामायण, महाभारत और प्राचीन महाकाव्यों में ऐसे कितने ही उपाख्यान मिलते हैं जो उपन्यास के निकट मिलते हैं। जैसे-दमयन्ती, सती-सावित्री आदि ऐसे लोग उपन्यास की परम्परा को संस्कृत साहित्य से जोड़कर बाणभट्ट कादम्बरी को भारत का प्रथम उपन्यास मानते हैं। इतना ही नहीं, वे दण्डी के दशकुमार चरित में भी औपन्यासिकता खोजने का प्रयत्न करते हैं। हमें इस वाद-विवाद में न पड़कर केवल इतना ही स्वीकार करना है कि इन रचनाओं में जहाँ कहीं भी औपन्यासिकता के दर्शन होते हैं वह एक मात्र संयोग है।

कथा साहित्य के संदर्भ में आज के उपन्यास का रचना विधान नितान्त भिन्न है। अत: यह स्पष्ट है कि यह भारतेन्दु युग में पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से हुआ। यहाँ एक बात स्मरण रखना आवश्यक है कि कथा साहित्य के विधा में उपन्यास नामक विधा का जन्म सबसे पहले यूरोप में हुआ था। कथा साहित्य में ही वह समाजशास्त्रीय विवेचन की प्रक्रिया देखने को मिलती है जो साहित्य एवं समाज को जोड़ती है। वर्तमान के संदर्भ में हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना में मुक्तिबोध का उल्लेखनीय स्थान है। मुक्तिबोध ने प्रसाद की सर्वोत्तम रचना कामायनी का विश्लेषण किया। 'कामायनी एक अध्ययन' और 'कामायनी एक पुनर्विचार' शीर्षक के अन्तर्गत ही अपने बहुमूल्य विचार प्रस्तुत किये हैं। मुक्तिबोध ने साहित्य में समाज की अभिव्यक्ति करने वाली दृष्टि और उस अभिव्यक्ति में कल्पना की सहायता से पुन: रचना करने वाली दृष्टि पर भी

विचार किया है। मुक्तिबोध समाजशास्त्रीय विश्लेषण की पद्धति पर विचार करते हुये साहित्य के अध्ययन को मानव सत्ता का अध्ययन बताते हुये इसके लिये सभी पद्धतियों में एकता की आवश्यकता का जिक्र करते हैं। कथा साहित्य में ऐसे बहुत सारे पहलु दिखाई देंगे जो सामाजिक विविधता को समेटते हैं। कथा साहित्य में सामाजिक रचनायें जो उपन्यास, कहानी, नाटक आदि हो सकते हैं जिसमें सामाजिक आलोचना की विविध स्वरूप देखने को मिलता है। सामाजिक समस्याओं पर लिखने वाले उपन्यासकार हैं- पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, भगवतीचरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, उदयशंकर भट्ट, सियारामशरण गुप्त, विश्वनाथ शर्मा कौशिक, विष्णु प्रभाकर तथा उपेन्द्रनाथ अश्क आदि हैं।

कथा साहित्य में समाजशास्त्रीय आलोचना में समाज के इर्द-गिर्द होने वाली घटनाएँ ही समाज का एक विषय बनती हैं। इससे सम्बन्धी समाजशास्त्रीय आलोचना की प्रविधि में साहित्य और समाज को रेखांकित किया जाता है। आलोचना के विभिन्न प्रकार हैं जो इस प्रकार हैं-

1- सैद्धान्तिक आलोचना- साहित्य सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्तों पर विचार किया है। ये सिद्धान्त शास्त्रीय भी हो सकते हैं और ऐतिहासिक भी। शास्त्रीय सिद्धान्तों का स्वरूप स्थिर और अपरिवर्तनीय होता है। ऐतिहासिक सिद्धान्तों का स्वरूप परिवर्तनशील और विकासात्मक होता है।
2- व्यावहारिक आलोचना- जब सिद्धान्तों के आधार पर साहित्य की समीक्षा की जाय, तो उसे व्यावहारिक आलोचना कहा जाता है।
3- व्याख्यात्मक आलोचना- गूढ़ गंभीर साहित्य रचना के विषय में उसकी भाषा, शिल्प को सरल एवं सुगठित भाषा में स्पष्ट करना।
4- जीवन चरितमूलक आलोचना- इसमें रचनाकार के व्यक्तित्व तथा उसके जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएँ पर्यावरण, हाव-भाव, रूचि शैली इत्यादि तथ्यों को ध्यान में रखकर

आलोचना की जाती है। जैसे- डॉ0 रामविलास शर्मा की 'निराला की साहित्य साधना' और नागेन्द्र का 'सुमित्रानन्द पंत'।

5- ऐतिहासिक आलोचना- इसके अन्तर्गत ऐसी आलोचनाएँ आती हैं जिसमें किसी रचना का मूल्यांकन रचनाकार की जाति, वर्ग और उसके समाज के आधार पर किया जाता है। इस आलोचना पद्धति का आरम्भ प्रसिद्ध इतिहासकार तेन ने किया था। यह हिन्दी आलोचना में अमूल्य निधि है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' पुस्तक में नाथ पंथियों का मूल्यांकन इसी आलोचना पद्धति पर किया है।

### 1.4.1 कथा साहित्य में आलोचना का महत्व-

कथा साहित्य सम्बन्धी आलोचना के संदर्भ में विभिन्न विधाओं में उनके गुणों को रेखांकित की जाती है। उसमें समाज विमर्श भी देखने को मिलता है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है कि ''यदि रचना अर्थ का विस्तार करती है तो आलोचना रचना का अर्थ विस्तार करता है।'' दूसरे शब्दों में जीवन के अन्तर्द्वन्द्व को देखने-परखने में आलोचना दीपक की भूमिका निभाती है। आलोचना रचनात्मक संकेतों को सामाजिक अनुभवों के आलोक में 'डी-कोड' करती है। इसी तरह जहाँ रचनाकार की रचनाशीलता विराम लेती है वहीं से आलोचक का कार्य प्रारंभ होता है।''

किसी भी कथा साहित्य की समाजशास्त्रीय आलोचना अपने समय और समाज की सापेक्षता की प्रसंगानुकूल में संभव होती है। तभी आलोचना की सार्थकता एवं साथ ही साथ रचना की मूल्यवत्ता प्रामाणिक होती है। इस प्रसंगानुकूलता एवं सापेक्षता की तलाश में आलोचना की सामाजिकता या सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रश्न उभरता है। अत: आलोचना साहित्य का शास्त्र नहीं है यद्यपि साहित्य का जीवन है जो बदलते सामाजिक संदर्भों में बार-बार

रचा जाता है। इस प्रकार आलोचना परखे हुये को बार-बार परखती है एवं जीवन संबंधों के विकल्प की तलाश में साहित्य और आलोचना की सह-यात्रा जारी रहता है। कथा साहित्य में आलोचना का सम्बन्ध एक साथ इतिहास और सामाजिक विमर्श दोनों से होता है।

इतिहास में परिवर्तन की दिशा और संवेदना की पहचान करते हैं और उसका विश्लेषण करते हैं। उस परिवर्तन के कारणों एवं पड़ावों की पहचान करने और उसे अपने तत्कालीन समाज से जोड़ने की दृष्टि से आलोचना का व्यापक महत्व होता है। सामाजिक विमर्श के रूप में आलोचना के मूल्य सामाजिक मूल्य से भी सम्बन्ध रखते हैं। आलोचना इतिहास के साथ ही समाज, राजनीति, धर्म, नैतिकता और अर्थव्यवस्था के प्रश्नों से भी टकराता है और इस टकराहट में वह साहित्य के मूल्य भी निर्मित करता है। मनुष्य के जातीय जीवन और उसकी संस्कृति से जोड़कर साहित्य का विश्लेषण करने में आलोचना का महत्व समझ में आता है। आलोचना से सहृदय को साहित्य के प्रामाणिक अनुशीलन की सुविधा प्राप्त होती है। सदृश्य की रस ग्रहण क्षमता का परिष्कार करने के लिये उसकी संवेदनाओं को जागृत करने में आलोचना का अहम महत्त्व है। इससे कृतिकार को उत्साह, विचारों की प्रौढ़ता, रचनात्मक विचारों और शिल्प एवं भाषा के परिमार्जन और परिवर्तन की प्रेरणा मिलती हैं, जबकि पाठक की बोध-वृत्ति का भी परिष्कार होता रहता है। इस सामाजिक आलोचना का संदर्भ, कथा साहित्य की प्रवृत्ति को सामाजिक मार्ग दिखाता है।

हिन्दी में कथा साहित्य की आलोचना अपने प्रारंभिक से लेकर सामाजिक व्यवहार से गहरे स्तर पर जुड़ी होती है। युगीन हलचलों, वैचारिक द्वन्द्वों, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक, राष्ट्रीय विचारों के सापेक्ष आलोचना के स्वरूप में भी व्यापक एवं महत्वपूर्ण बदलाव हुआ है। हिन्दी आलोचना रचनात्मक साहित्य के नवीन सृजन, नवीन विचारधाराओं एवं नवीन सामाजिक सरोकारों से टकाराता है इस प्रकार विविध दृष्टियों, प्रतिमानों और प्रवृत्तियों

से मुक्त होती रहती है। समाजशास्त्रीय आलोचना वर्तमान सन्दर्भ में नयी आलोचना से प्रभावित दिखाई पड़ती है। यह एक समाजशास्त्रीय एवं कथा साहित्य के तत्व से जोड़ती है। साहित्य समाज को अभिव्यक्ति के रूप में मानती है। यह नई आलोचना की मूल प्रवृत्ति को जटिल बनाता है जो केवल भावात्मक प्रतिक्रिया या लेखक के इरादों पर विचार किये बिना एक रूचिपूर्ण पाठ पढ़ने की मांग करता है जबकि प्रभावशाली प्रतिक्रिया और आधिकारिक इरादे से बचते हैं। वह विशेष रूप से कला और साहित्य के टुकड़ों का समाज एवं सामाजिक व्यवहार के व्यवस्थित प्रतिबिम्ब के रूप में मानते हैं। वह समझता है कि किस तरह से इन कलाकृतियों को काम के माध्यम से रणनीतिक रूप से नियोजित करने के लिये प्राप्त किया जाता है।

इसलिए वह कलाकारों एवं लेखकों के द्वारा उपयोग की जाने वाली विधियों के मानकीकरण का सुझाव देता है, ताकि सामाजिक संदर्भ में कला के कार्यों पर विचार करने में समर्थ हो सकें।

### 1.4.2 साहित्य तथा समाजशास्त्रीय आलोचना-

कला- साहित्य का भी समाजशास्त्र होता है किन्तु इसे विशुद्ध समाजशास्त्री मानने को तैयार नहीं हैं। वे इसे समाजशास्त्र की एक शाखा मानते हैं तो दूसरी ओर ऐसे साहित्य आलोचक भी हैं जो साहित्य के समाजशास्त्र को इसलिये नहीं स्वीकारते क्योंकि इसका सीधा संबंध बाजारू साहित्य से है। एक तीसरी स्थिति वह भी है जहाँ साहित्य और समाजशास्त्र के अन्त:संबंध और उसके प्रभाव एवं उपयोगिता को समझने तथा स्वीकारने वाले विद्वान अपने-अपने ढंग से पहल करते हैं। वास्तविकता यह है कि साहित्य के गम्भीर-मूर्धन्य आलोचकों ने जिसे बाजारू सस्ता एवं सतही तथा चालू किस्म का साहित्य मानकर उसे हाशिये पर रखा, उसका उत्पादन, विक्रय और लोकप्रियता बहुत अधिक है। यहाँ सवाल यह है कि ऐसा साहित्य

अपने उपभोक्ताओं की किन आवश्यकताओं या उद्देश्यों की पूर्ति करता है तथा उसका भी कोई अपना साहित्यशास्त्र है या सौन्दर्यशास्त्र या समाजशास्त्र।

इस दिशा में राजेन्द्र यादव का देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन में महत्वपूर्ण कार्य है। साहित्य की कसौटी बदलने की बात प्रेमचन्द जी ने कही थी। कालान्तर में दलित लेखन एवं स्त्री दृष्टिकोण को समझने के प्रयास हुये और उनके साहित्य के सौन्दर्य को स्वीकृति भी मिली।

मैनेजर पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'साहित्य के समाजशास्त्र' की भूमिका में लिखते हैं ''कला और साहित्य की कृतियों को सामाजिक तथ्य तथा घटना के रूप में देखना, उनकी उत्पत्ति की व्याख्या में कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करना, प्रकृति विद्वानों की वस्तुपरक पद्धति को अपनाना और कृतियों को मानव चेतना की अभिव्यक्ति समझना उनकी विशेषताएँ हैं।''[39] तेन का मानना था कि किसी भी महान कृति में तत्कालीन समाज, उसके रीति-रिवाजों और समय की अभिव्यक्ति होती है। साहित्य और समाज के बीच वस्तुपरक सरोकार कौन से हैं किन अर्थों में साहित्य समाज का दर्पण है, कृति तथा पाठक के बीच कैसा सम्बन्ध है? आदि प्रश्नों का उत्तर उन्होंने साहित्य के समाजशास्त्र का स्वरूप स्पष्ट करते हुये दिया है। मैनेजर पाण्डेय के अनुसार साहित्य के समाजशास्त्र के चार मुख्य पक्ष हैं-

(1) साहित्य के भौतिक-सामाजिक मूलाधार की खोज

(2) लेखन लेखक के महत्व का विश्लेषण

(3) साहित्य के समाज के प्रतिबिम्बन की व्याख्या

(4) साहित्य का पाठक से सम्बंध ।

इस प्रकार तेन ने साहित्य के विकास में समाज की भूमिका स्पष्ट करते हुये प्रजाति, परिवेश और युग को कारण माना है।

### 1.4.3. समाजशास्त्रीय आलोचना प्रविधि का प्रभाव

साहित्य के समाजशास्त्रीय विश्लेषण की कई पद्धतियाँ है जिसमें विधेयवादी दृष्टिकोण, मार्क्सवादी विश्लेषण, संरचनावादी दृष्टिकोण, आलोचनात्मक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण, उत्पत्तिमूलक संरचनावादी दृष्टिकोण, आदि मुख्य हैं। सामाजिक वास्तविकता, जीवन अनुभव, विचारधारा और अभिव्यक्ति की कलात्मक क्षमता का साहित्य सृजन पर सीधा प्रभाव पड़ता है। लेखक की ऐतिहासिक पूर्वाग्रह और गलत विचारधारा से दूरी, तटस्थता एवं ईमानदारी, सत्य में अटल विश्वास से जो साहित्य निर्मित होगा वह यथार्थ के अधिक करीब और अपनी अलग पहचान रख सकेगा। यही कारण है कि प्रेमचन्द का गाँव तथा किसान और रेणु के गाँव तथा किसान एक दूसरे से पर्याप्त अन्तर एवं नवीनता रखते हैं। साहित्यकार की रचना के केन्द्र में वर्ग या व्यक्ति हो सकता है, जैसे कि प्रेमचन्द और अज्ञेय का साहित्य। वर्षों के बाद प्रेमचन्द की परम्परा अपने विकसित एवं परिमार्जित रूप में यदि आज भी विद्यमान है तो उसकी पड़ताल उपर्युक्त आधारों पर की जा सकती है।

साहित्य का समाजशास्त्र समाज और साहित्य की पृष्ठभूमि और दोनों के बीच के विशिष्ट सम्बन्धों की पड़ताल एवं व्याख्या करता है। साहित्य की विविध विधाओं की अपनी विशिष्ट प्रकृति, रूप–संरचना, शब्दावली, शैली होती है। इसलिए उसके अनुरूप समाजशास्त्रीय विवेचना करना चाहिए। साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन सावधानीपूर्वक करना चाहिए ताकि साहित्य के विविध रूपों और विधाओं का समाजशास्त्र एक जैसा नहीं हो सके। रचना का समाजशास्त्रीय विवेचन करते समय उसकी प्रकृति की परख जरूरी है। रचना का ऐसा

समाजशास्त्र जो उसके सामाजिक महत्व का विश्लेषण करे लेकिन उसके कलात्मक सौन्दर्य पर ध्यान न दे वह अधूरा होगा। इस बात को हम उपन्यास के विकास एवं लेखन में सामाजिक, भौगोलिक, आर्थिक पहलुओं के योगदान से समझ सकते हैं।

साहित्य के समाजशास्त्र का उपयोग विशुद्ध समाजशास्त्री भी जाने-अनजाने, प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से करते हैं। रामायण साहित्यिक कृति है। डॉ० संजीव महाजन सामाजिक विचलन का उदाहरण श्रीरामायण के शम्बूक-वध की घटना से देते हैं। "उसका यह व्यवहार वर्ण धर्म के अनुकूल नहीं था क्योंकि शूद्रों को इस प्रकार की तपस्या करने का अधिकार नहीं था। शम्बूक अपराधी घोषित किया गया। वह विचलन का दोषी था। प्रेमचंद की कहानी 'कफन' में प्रसव–वेदना से तड़पती बुधिया को छोड़कर उसका पति और ससुर भुने हुये आलू खाते हैं। इतना ही नहीं कफन के पैसों का उपयोग जिस तरह खाने-पीने में करते हैं, उसे लेकर अधिकांश दलित लेखकों और आलोचकों ने प्रतिक्रिया दी है सभी को मालूम है। गुजराती उपन्यास 'मानवीनी गवाई' (1947) में 'छप्पनिया' अकाल की पृष्ठभूमि है। अकाल से पीड़ित भूख से तड़पते आदिवासी भील गिद्ध की तरह मरे हुये पशु पर टूट पड़ते हैं। कलेजा कांप जाता है। रोम-रोम सिहर उठता है, ऐसा वर्णन है। उपन्यास का नायक कालू देखता है कि झाड़ी में एक औरत खरगोश जैसा कुछ खा रही है। उसका भ्रम था या वास्तविकता, खरगोश था या उसका अपना बच्चा ही था। जगत में सबसे बुरा अगर कुछ है तो वह है भूख। वास्वत में ऐसी कृतियों के लिए समाजशास्त्रीय अध्ययन विश्लेषण की आवश्यकता होती है। साहित्यिक कृतियों के समाजशास्त्रीय अध्ययन - निर्वचन करने के लिये विभिन्न पद्धतियों का उपयोग होता है। एक ही पद्धति और पैमाने से ज्ञान-विज्ञान के किसी भी क्षेत्र का अध्ययन - विश्लेषण सम्भव नहीं है। साहित्य का समाजशास्त्र अपने आप में पूर्ण एवं स्वतंत्र साहित्य विधा है तथा उसका सम्बंध अन्य सामाजिक विज्ञानों से भी है। आदिकाल में मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के

लिये समूह में रहता था उसके आपसी व्यवहार एवं सम्बन्धों से समाज का निर्माण हुआ और वह एक सामाजिक प्राणी है इसीलिये मैकाइवर व पेज ने सामाजिक सम्बंधों के जाल को समाज कहा है। समाज शास्त्र समाज के समस्त सन्दर्भों, समस्याओं एवं पहलुओं का क्रमबद्ध अध्ययन करने वाला विज्ञान है।

### 1.4.4. समाजशास्त्र कथा साहित्य (हिन्दी)

हिन्दी कथा साहित्य में बाल केन्द्रित कहानियों एवं उपन्यासों में बच्चों की अनेक सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओं की चर्चा करते हुये हिन्दी कथाकारों ने गहन संवेदना और गहरी समझ का परिचय दिया है। कहीं यह चर्चा प्रत्यक्ष है और कहीं परोक्ष, तो कहीं, गौंण, परन्तु समाजशास्त्रियों की दृष्टि से छूट गई अनेक ऐसी गंभीर समस्याओं को प्रमुखता से स्थान दिया गया है जो बच्चों पर सीधे आक्रमण करती है और जिनके सूत्र उनके अभिभावकों के व्यवहार उनकी परवरिश के तौर-तरीकों, उनको प्राप्त होने वाले परिवेश तथा वातावरण में मिलेगें। फिर भी बच्चों की कुछ समस्याओं की व्याख्या समाजशास्त्र बेहतर ढंग से करता है और कुछ समस्याओं के सूक्ष्म से सूक्ष्म बिन्दु तक केवल कुछ ही साहित्यकारों की ही दृष्टि पहुँच सकी है। दोनों दृष्टिकोणों की तुलना करने पर प्राप्त तथ्य इस प्रकार हैं-

हिन्दी कथा साहित्य में भी पूरी गम्भीरता के साथ इस समस्या को उठाया गया है। परिवार, पड़ोसी, रिश्तेदार या अन्य विश्वासपात्रों के द्वारा किये गये इस अपराध की व्याख्या के साथ इसके कारण बच्चों पर पड़ने वाले तात्कालिक तथा दूरगामी दुष्प्रभावों की भी चर्चा की गई है। जैसे- कमल कुमार की कहानी 'नहीं बाबूजी नहीं' तथा नासिरा शर्मा की कहानी 'बिलाव' में नशे में धुत पिता ही अपनी पुत्री के साथ दुराचार करता है। सगे पिता के साथ जब पुत्री सुरक्षित नहीं तो सौतेले पिता का कहना ही क्या ? सौतेले पिता की कुदृष्टि की शिकार शबनम (शबनमा

देवेन्द्र सत्यार्थी) उसकी यौन-कुचेष्टाओं से घबराकर घर से भाग जाती है। किन्तु कहीं भी सुरक्षित ठौर-ठिकाना न मिलने के कारण अन्तत: एक वेश्या बन जाती है।

वहीं 'छिन्नमस्ता' नामक उपन्यास में प्रिया नामक बालिका अबोधावस्था से लगातार अपने सगे बड़े भाई के द्वारा दुराचार की शिकार होती है और चुपचाप सहते रहने की विवशता उसके शोषण के नैरन्तर्य को और भी बढ़ाती है। अशक्त और मासूम बच्चे अपने चारों ओर बड़ों की दुनिया में निडर होकर अपनी पीड़ा की बात कर सकें ऐसा माहौल उन्हें कहीं नहीं मिलता है। अपने माँ, बहन, भाई, पिता, चाचा, ताऊ, अध्यापक पड़ोसी या सम्बंधी की आँखों में आँखें डालकर बता सकें कि पिछली रात, पिछले दिन, पिछले महीने या पिछले साल या हर रात, हर दिन उनके साथ कौन क्या कर रहा है। 'बच्चे झूठ बोलते हैं' बड़ों की दुनिया का ये ब्रह्मसूत्र या वेदवाक्य बच्चों के मनों पर घात लगाये बैठा रहता है। बात-बात पर झिड़की खाने वाले बच्चे नंगे होकर कैसे दिखायें कि उनके जिस्म कितने जख्मी हैं। प्रिया को भी हर वक्त डाँटने, झिड़कने वाली माँ से यह सब कुछ बताने में यही भय है कि उसकी बात का विश्वास नहीं किया जायेगा । 'खेल' (नवनीत मिश्र) तथा 'मैंने कह दिया न बस' कहानी में यह दुष्कृत्य विश्वासपात्र पड़ोसी करता है। वहीं 'कन्या' (उमेश माथुर) में कथा वाचक पण्डित, 'विलाव' (नासिरा शर्मा) और 'काली लड़की की करतब' (मंजुल भगत) में मुँह बोला मामा और चाचा तथा 'सूरजमुखी अँधेरे के' (उपन्यास कृष्णा सोबती) में यह दुष्कृत्य एक अज्ञान व्यक्ति करता है।

### 1.4.5. साहित्य का समाजशास्त्री सिद्धान्त

साहित्य एवं समाज से तथ्यों के सामान्यीकरण से जो निष्कर्ष हम प्राप्त करते हैं वही सिद्धान्त के रूप में मान्यता ग्रहण करते हैं। इसलिये सिद्धान्त के निर्माण में तथ्य अनिवार्य होते हैं। विश्वम्भर दयाल गुप्त ने 'साहित्य का समाजशास्त्र' में लिखा है कि ''सिद्धान्त का निर्माण

तथ्यों के आधार पर होता है। तथ्य एक अनुभवाश्रित एवं सत्यापन योग्य अवलोकन है। तथ्य वास्तविक एवं सत्य होते हैं तथा इनका सामान्यीकृत रूप ही सिद्धान्त रचना का आधार बनता है।"[40] अर्थात् जब तथ्य निश्चित अनुक्रम या व्यवस्था को तर्कसंगत आधार पर ग्रहण करते हैं तो वे एक सिद्धांत का स्वरूप ग्रहण करते हैं। साहित्य का अध्ययन करने पर उस विशेष समय का युग की परिस्थियितों से रचना के निर्माण में पड़ते प्रभाव का ज्ञान होता है। इसलिये साहित्य में उस समाज के रूप का दर्पण दिखाई देता है। साहित्य के समाजशास्त्र के सिद्धान्त व मान्यताएँ देने वाले चिंतक साहित्य को समाज की प्रतिच्छाया, दर्पण, दस्तावेज, संस्कृति का वाहक व रक्षक, नियामक प्रभावक व सम्प्रेषक स्वीकार करते हैं। विभिन्न चिंतकों द्वारा जिन स्वीकृत मान्यताओं को आधार बनाया गया उनका वर्णन इस प्रकार है-

**प्रतिच्छाया सिद्धान्त** में किसी वस्तु की परछाई या प्रतिबिम्ब एवं साहित्य भी समाज की परछाई और उसका दर्पण है यह मान्यता प्राचीन समय से चली आ रही है और प्लेटो से चलकर एलन स्विंगवुड तक सभी चिन्तकों ने साहित्य में समाज की प्रतिच्छाया को स्वीकार किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य को समाज का सजीव दर्पण माना है। वे इसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य का दर्शन एक साथ स्वीकार करते हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने स्वीकार किया कि समाज में जो प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं वे साहित्य में प्रतिबिम्बित होती हैं। साहित्य समाज को ही प्रस्तुत करता है।

अत: मानव अपने जीवन में जो कुछ भी अनुभव करता है, जिसे समझता है उसका वर्णन साहित्य में होता है। इसलिए प्रत्येक युग में रहने वाले मनुष्य को समझना है तो साहित्य के अध्ययन से यह संभव हो सकता है। इस प्रकार साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है। इस सिद्धान्त के आधार पर साहित्य - समाजशास्त्री समाज की संरचना को समझने में योग्य हो सकता है।

साहित्य को पढ़कर उस समाज को आत्मसात किया जा सकता है और उसका अध्ययन हेतु प्रयोग किया जा सकता है।

**नियामक सिद्धान्त**

साहित्य समाज का दर्पण भी है और उसका नियामक भी है। साहित्य मानव जीवन पर नियंत्रण रखकर उसे एकता के सूत्र में बांधता है। रचनाकार कृति के माध्यम से समाज पर प्रभाव डालता है तथा समाज पर नियंत्रण भी रखता है साहित्य के समाजशास्त्र के नियामक सिद्धान्त की अवधारणा पी०बी० शैली के विचारों में स्पष्ट रूप से मिलती है। शैली ने यह स्वीकार किया है कि कवि अपने समाज पर नियंत्रण रखने के लिये व्यवहार प्रतिमानों, समाजीकरण और मूल्यों की सहायता लेता है। समाज को नई दिशा दिखाने का कार्य साहित्य करता है। भारत में जितने भी आंदोलन हुए उनमें साहित्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। महावीर प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में तो साहित्य में किसी भी तोप, तलवार या एटम बम से ज्यादा शक्ति छिपी हुई है जिससे समाज में परिवर्तन किया जा सकता है। साहित्य समाज की भलाई के लिये अस्तित्व में आता है और समाज में शांति व सहयोग बनाये रखने में सहायक होता है जिससे कि नियंत्रण बना रहता है । इस सिद्धान्त के आधार पर साहित्य - समाजशास्त्री मनुष्य पर साहित्य का क्या प्रभाव पड़ा उसका अध्ययन कर सकता है। साहित्य ने मूल्यों के निर्माण में क्या भूमिका निभाई उसका अध्ययन भी हो सकता है। इस प्रकार साहित्य मानव के कल्याण में सहायक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता को लोकमंगल को प्रेरित करने वाली माना है जिसमें व्यक्ति लोक के भले के लिये अपने स्वार्थ को भी भूल जाता है।

**साहित्यिक तथ्य का सिद्धान्त**

साहित्यिक कृति को समझने के लिये लेखक, पाठक व आलोचक के मध्य अन्तर्क्रियाओं के प्रभावों और उसके परिणामों के संदर्भ में जान लेना आवश्यक है। रॉबर्ट

एस्कॉरपिट के द्वारा लेखक, कृति और पाठक को साहित्यिक तथ्य के रूप में मान्यता प्रदान की गई। एच०डी० इंकन द्वारा लेखक पाठक व आलोचक के विधि को महत्त्व दिया गया। जॉर्ज एहवाको ने संरक्षक, लेखक, आलोचक, प्रकाशक और जनता को महत्व दिया । इस सिद्धान्त के आधार पर साहित्य - समाज शास्त्री अपने अध्ययन विषय के अन्तर्गत लेखक, पाठक, आलोचक की अन्तर्क्रियाओं के होने वाले प्रभाव परिणाम के सन्दर्भ में कृति का अध्ययन कर सकता है।

**सामाजिक यथार्थवाद का सिद्धान्त**

समाजवादी यथार्थवाद को बीसवीं शताब्दी में स्वीकार कर लिया गया। समाजवादी यथार्थवाद का नाम सर्वप्रथम मैक्सिम गोर्की द्वारा सन् (1934) ई0 में लिया गया। समाजवादी यथार्थवाद मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन में विशेष स्थान रखता है। इस संदर्भ में शिवकुमार मिश्र ने 'यथार्थवाद' पुस्तक में लिखा है कि ''समाजवादी यथार्थवाद के मूल में मार्क्स एंगोल्स तथा लेनिन द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक समाजवाद तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की वह विकासात्मक धारणा है जो विरोधी तत्वों के बीच चलने वाले चिंतन संघर्ष की भूमि पर प्रतिक्षण एक नये परिवर्तन की सूचक बनती है और यह परिवर्तन यांत्रिक भौतिकवादियों के मन के विपरीत सदा ही एक गुणात्मक विकास की योजना करता है।''[41] समाजवादी यथार्थवाद सिद्धान्त की यह प्रक्रिया सदैव चलती रहती है और उन्नयन की भूमिका निभाती है। साहित्यकार शोषण और अन्याय पर आधारित समाज-व्यवस्था के एक दिन पूर्ण रूप में खत्म हो जाने के प्रति आशान्वित है । इसलिये वह कठिन समय में भी निराशा के आलम में नहीं पहुंचता है। समाजवादी यथार्थवाद की मान्यता है कि रचनाकार का यह कर्तव्य है कि वह समाज के विकास की द्वन्द्वात्मक भूमिका को अपनाये और समाज का यथार्थ चित्रण करने में आगे आये। पहले रचित साहित्य में प्राय: आदर्श व कल्पना का वर्णन होता था लेकिन अब यथार्थ ने उसका स्थान ले लिया। पहले

रचनाकार युग दृष्टा के रूप में ही प्राय: देखने को मिलते थे किन्तु आज युग दृष्टा के अवतार में देखने को मिलते हैं।

शिवकुमार मिश्र के अनुसार ''समाजवादी यथार्थवाद जहां वस्तुगत यथार्थ को उसकी सारी सजीवता, सच्चाई तथा तीव्रता के साथ चित्रित करने का आग्रह करता है। वहां इस बात पर भी जोर देता है कि यथार्थ का चित्र, उस यथार्थ के बीच सक्रिय मनुष्य का चित्र उसकी संपूर्ण भूमिका में उभरे।'' इसलिए लेखक सिर्फ सतही तौर पर ही सच्चाई का चित्र न खींचे बल्कि भीतरी तहों तक वास्तविकता जानने की कोशिश करें। लेखक का कर्तव्य है कि मानव के आने वाले काल की एक दृष्टि लेकर समाज में आये। इस प्रकार साहित्य - समाजशास्त्री जब साहित्य का अध्ययन विश्लेषण करता है तो उसे यह ध्यान में रखना चाहिये कि क्या साहित्य में लेखक ने यथार्थ का अंकन समग्र रूप में किया है, क्या लेखक ने भविष्य को लेकर नवीन दृष्टि का संचार किया है, क्या लेखक द्वारा कृति के माध्यम से समाज का विकास करने में भूमिका उचित ढंग से निभाई गयी।

निष्कर्षत: साहित्य के प्रति समाजशास्त्रीय दृष्टि रखने वाले विद्वानों ने साहित्य के समाजशास्त्री अध्ययन के लिये प्रतिच्छाया सिद्धांत, नियामक सिद्धान्त को साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में उसके व्यवहार को दर्शाता है। समाजशास्त्र और साहित्य दोनों मिलकर समाज का, समाज में रहने वाले व्यक्तियों का, और उनके मध्य मिलने वाले सम्बंधों का अध्ययन करते हैं। साहित्य का समाज शास्त्र साहित्य के लिये समाजशास्त्रीय दृष्टि अपनाता है। अर्थात् जहाँ साहित्य स्वयं तो साध्य की भूमिका निभाता है किन्तु समाज शास्त्र को साधन की भूमिका में लेकर आता है। इसमें साहित्य ही प्रमुख रूप से उभरता है, क्योंकि साहित्य समाज को लेकर चलता है। साहित्य की रचना समाज के प्राणी रचनाकार ने ही की है और इसलिये रचनाकार का सामाजिक परिवेश और कृति के जन्म लेने में शुरूआत से जिम्मेदार सामाजिक

परिस्थितियाँ उसी समाज की ऊपज होती हैं। शुरूआत से ही समाज को नियंत्रण में रखने के लिये कई मानदण्डों का निर्माण किया गया था। आज कुछ मानदण्डों की सार्थकता समय के साथ - साथ घटती जा रही है। अत: वर्तमान में प्रथाओं, धर्म संस्थाओं और कानून की महत्ता सामाजिक मानदण्डों में सर्वाधिक हैं।

## संदर्भ ग्रंथ सूची


1 भगवत शरण अग्रवाल : साहित्य और समीक्षा पार्श्व प्रकाशन, अहमदाबाद, 1995, पृ011।

2 मैनेजर पाण्डे : साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिकाश्, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1989, पृ0 9।

3 शिवकुमार मिश्र : साहित्य और सामाजिक संदर्भ, 1977, पृ0 22-23।

4 शिवकुमार मिश्र : साहित्य और सामाजिक संदर्भ, 1977, पृ0 23।

5 रमेश उपाध्याय : कहानी की समाजशास्त्रीय समीक्षा, 1999, पृ0 2।

6 नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, 1962, पृ0 46।

7 विश्वम्भर दयाल गुप्ता : साहित्य का समाजशास्त्र: अवधारणा, सिद्धांत एवं पद्धति, 1982, सीता प्रकाशन, हाथरस, पृ0 67।

8 सम्पा0 हरिकृष्णरावत : समाजशास्त्र कोश अवधारणाएं, (प्रथम, खण्ड) रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 1986, पृ0 160-161।

9 M. Francis Abraham : Contemporary Sociology, An Introduction to concepts and theories, Oxford University press, New Delhi, 2006, page -4.

10 Gordon Marshall (editor) : Oxford dictionary of Sociology, Oxford University Press, New York, 2005, page-628.

11 श्याम बहादुर वर्मा : प्रभात बृहत् हिन्दी शब्दकोश, भाग दो, प्रभात प्रकाशन प्रथम संस्करण, दिल्ली, पृ0 24-63।

12 कालिका प्रसाद (सम्पा) : बृहत हिन्दी कोश, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, चौथा, संस्करण, पृ0 12।

13 नगेन्द्र (सम्पा) : मानविकी परिभाषिक कोश, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1968, पृ0 256।

14 नगेन्द्र : साहित्य का समाज, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1982, पृ0 4।

15 मैनेजर पाण्डेय : साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1989, पृ0 18।

16 विश्वम्भर दयाल गुप्ता : साहित्य का समाजशास्त्र, अवधारणा सिद्धांत एवं पद्धति, सीता प्रकाशन, हाथरस, 1982, पृ0 - 42।

17 शिवपूजन शर्मा : फणीश्वर नाथ रेणु के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अनुशीलन, मनीषा प्रकाशन, वाराणसी, 2012, पृ0 29-30।

18 डॉ. श्यामसुन्दर दास : साहित्यालोचन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2017, पृ0 148।

19 ए. अरविन्दाक्षन : कविता की धरती, पक्षधर ( संकलन - 2 ), 2007, पृ0 60।

20 शिवकुमार मिश्र : साहित्य और सामाजिक संदर्भ, 1977, पृ0 19।

21 नेमिचन्द्र जैन (सम्पा) : मुक्तिबोध रचनावली - 4, 1980, पृ0 229।

22 राजेन्द्र कुमार : यथार्थ और कथार्थ, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, 2015, पृ0 139।

23 विश्वम्भर दयाल गुप्त : साहित्य का समाजशास्त्र, अवधारणा सिद्धांत एवं पद्धति, सीता प्रकाशन, हाथरस, 1982, पृ0 27।

24 नेमिचन्द्र जैन (सम्पा) : मुक्तिबोध रचनावली - 4, 1980, पृ0 229।

25 राजेन्द्र कुमार : यथार्थ और कथार्थ, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, 2015, पृ0 139।

26 नेमिचन्द्र जैन (सम्पा) : मुक्तिबोध रचनावली - 4, 1980, पृ0 226।

27 मैनेजर पाण्डेय : साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, 1989, पृ0 17।

28 मैनेजर पाण्डेय : आलोचना की सामाजिकता; 2005, पृ0 86।

29 प्रशान्त त्रिपाठी : विल्फ्रेडो परेटो एक समाजशास्त्रीय अध्ययन, समाजशास्त्र कानपुर, 1985, पृ0 9।

30 मुजतबा हुसैन : समाजशास्त्रीय विचार, ओरियंट ब्लैक स्वान प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2010, पृ. 204।

31 चित्रा त्रिपाठी : इमिल दुरखाइम : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन, समाजशास्त्र संसद कानपुर, 1985, पृ0 11।

32 चित्रा त्रिपाठी : इमिल दुरखाइम : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन, समाजशास्त्र संसद, कानपुर, 1985, पृ0 64।

33 राहुल सांकृत्यायन : कार्ल मार्क्स, किताबमहल, 1977, पृ0 04।

34 शिवकुमार मिश्र : मार्क्सवादी साहित्य - चिन्तन : इतिहास तथा सिद्धान्त, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1973, पृ0 40-41।

35 (सम्पा) हरिकृष्ण रावत: समाज शास्त्र कोश अवधारणाएं, (भाग - एक ), रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 1986, पृ0 417।

36 एलबर्ट डब्ल्यू. स्टीवर्ट : सोशियोलॉजी द ह्यूमन साईंस, एम सी ग्रॉ हिल बुक कम्पनी, 1978, पृ0 24।

37 डी.पी. मुकर्जी : इंडियन ट्रेडिशन एंड सोशल चेंज, पॉपुलर प्रकाशन मुंबई, 1955।

38 मैनेजर पाण्डेय : साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ0 122।

39 विश्वम्भर दयाल गुप्ता : साहित्य का समाजशास्त्र, सीता प्रकाशन, हाथरथ, 1982, पृ0 79।

40 शिवकुमार मिश्र : यथार्थवाद, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लि०, दिल्ली, 1975, पृ0 115

41 शिवकुमार मिश्र : मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन : इतिहास तथा सिद्धांत, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1973, पृ0 117।